वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 61
ISBN-978-93-82071-88-4

दशधर्म

–रचयित्री –

**जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी,
दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी**

हस्तिनापुर में जन्मे तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं कामदेव पद से समन्वित भगवान श्री शांतिनाथ के केवलज्ञानकल्याणक, पौष शु. दशमी-10 जनवरी 2014 के अवसर पर पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के अमृत महोत्सव 2013-14 के अन्तर्गत प्रकशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.
फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org
E-mail : jambudweeptirth@gmail.com
Facebook : jaintirthjambudweep

चतुर्थ संस्करण	वीर नि. सं. 2540	मूल्य
1100 प्रतियाँ	पौष शु. दशमी, 10 जनवरी 2014	24/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–: मार्गदर्शन :–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी
(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

–: निर्देशक एवं सम्पादक:–

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

–: प्रबंध सम्पादक :–

जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

तृतीय संस्करण, सन् 2001-5500 प्रतियाँ

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

-कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्ति श्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

दशलक्षण पर्व जैन सम्प्रदाय का अनादिनिधन पर्व है। इस पर्व में आत्मा की विशुद्धि के लिए उत्तम क्षमा आदि दशधर्मों का पालन किया जाता है। वैसे तो ये दशधर्म आत्मा के स्वभाव हैं फिर भी स्वभाव की उपलब्धि न होने से विभावरूप परिणत इस आत्मा को अज्ञान अथवा अंधकार से बचाने के लिए पुनः सुसंस्कारित करने की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए प्रतिवर्ष दशलक्षण पर्व में उत्तम क्षमा आदि दशधर्म का विवेचन प्रत्येक नगर में विद्वानगण अथवा त्यागीगण करते हैं। जिसे श्रावक-श्राविकाएं सुनकर उससे कुछ आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होते हैं।

पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का जैन समाज के लिए महान उपकार है। जिन्होंने अपनी लेखनी से अनेक ग्रंथों का सृजन कर जैन वाङ्मय में अभिवृद्धि की है। इसी शृँखला में आपने उत्तम क्षमा आदि दशधर्म का विवेचन संस्कृत श्लोक में एवं हिन्दी पद्य में किया था। जिसे हमें प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसमें प्रत्येक धर्म का अलग-अलग विवचेन प्राकृत, संस्कृत या हिन्दी पद्य एवं कथानकों से किया गया है। जिससे विद्वानों को भी दशधर्म की अच्छी सामग्री इस पुस्तक से प्राप्त हो जायेगी।

1986 में ग्रीष्मावकाश की छुट्टियों में पूज्य माताजी के सान्निध्य में एक प्रशिक्षण शिविर लगाने का निर्णय हुआ और शिविर में मुख्यरूप से दश धर्म के बारे में विद्वानों को सुशिक्षित किया गया। इस आशय से इस पुस्तक का पुनः मुद्रण इस प्रशिक्षण शिविर के शुभ अवसर पर किया गया। ताकि प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले नवचेतना के धनी नवयुवक विद्वानों को इसके आश्रय से कुछ सामग्री प्राप्त हो सके।

आशा है कि पाठकगण इस पुस्तक से अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

प्रस्तावना

–आर्यिका चन्दनामती

धर्म का स्वरूप बताते हुए आचार्यों ने कहा है–

''उत्तमे सुखे धरति इति धर्मः'' अर्थात् जो संसारी प्राणियों को दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दे उसे धर्म कहते हैं तथा प्रत्येक वर्ष भाद्रपद शुक्ला पंचमी से पूर्णिमा तक पालन किये जाने वाले धर्मों को ''दशधर्म'' या ''दशलक्षण धर्म'' यह संज्ञा दी है।

जिस प्रकार मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार सभी महीनों में यह भाद्रपद नाम का महीना श्रेष्ठ है क्योंकि यह अनेक व्रतों की खान है और धर्म का प्रधान कारण है।

प्रस्तुत ''दशधर्म'' पुस्तक में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने बहुत ही सरल शब्दों में इन दश धर्मों की विवेचन की है। अपभ्रंश भाषा में रइधू कवि द्वारा लिखित जयमाला में दस धर्मों के नाम बताते हुए कहा गया है कि–

उत्तम-खम मद्दउ अज्जउ सच्चउ, पुणु सउच्च संजमु सुतउ।
चाउवि आकिंचणु भव भय वंचणु, बंभचेरू धम्मु जि अखउ।।

अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दशधर्म अक्षय अविनाशी हैं और संसार के भय को दूर करने वाले हैं।

इस प्रकार पूज्य गणिनी माताजी की सदैव यही भावना रहती है कि ऐसे संसारी प्राणी धर्म को धारण करने में समर्थ हो सकें। उनका यही कहना है कि सभी विद्वान इन दिनों में श्रावकों को आधुनिक शैली के माध्यम से धर्म को ग्रहण कराने का पुरुषार्थ करें किन्तु मात्र लोकानुरंजन में ही अपना समय व्यतीत न करें।

दशलक्षण धर्म पूजन की जयमाला में माताजी ने बहुत ही वैराग्यवर्धक भाव संजोये हैं–

व्यवहार नयाश्रित आत्मा तो, कर्मों से युत संसारी है।
शारीरिक मानस आगंतुक, नाना दुःखों का धारी है।।
भव-भव के जन्म मरण दुःखों को व्याकुल होकर भोग रहा।
फिर भी यह चिच्चैतन्यमयी, आत्मा के गुण को खोज रहा।।

इन पंक्तियों को पढ़ते-पढ़ते भक्तगण वास्तव में अपने आप में इतने भाव-विभोर हो उठते हैं कि कुछ क्षण के लिए तो वे अपने आपको ही भूल जाते हैं कि हम कहाँ हैं ? इन दश धर्मों के बारे में और भी कहा है–

सिद्धिः प्रासादनिःश्रेणी-पंक्तिवत् भव्यदेहिनाम्।
दशलक्षणधर्मोऽयं, नित्यं चित्तं पुनातु नः।।

अर्थात् भव्यजीवों के सिद्धिमहल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की पंक्ति के समान यह दशलक्षण धर्म नित्य ही हम लोगों के चित्त को पवित्र करे।

इसके अतिरिक्त इन दश धर्मों में से एक-एक धर्म भी महान सुख को प्रदान करने वाला है। इन धर्मों को कल्पवृक्ष की संज्ञा प्रदान की है–

हे धर्म! कल्पवृक्ष त्वां, वंदे भक्त्या त्रिशुद्धितां।
''ज्ञानमत्या'' समं मह्यं, स्वर्ग मोक्षफलं दिश।।

अर्थात् हे धर्मरूपी कल्पतरु! मन, वचन और काय इन तीनों शुद्धि से युक्त भक्तिपूर्वक मैं आपको नमस्कार करता हूँ आप मुझे सज्ज्ञानमती के साथ-साथ स्वर्ग और मोक्ष को प्रदान करो। इस प्रकार पूज्य गणिनी ज्ञानमती माताजी के हम चिरकाल तक ऋणी रहेंगे जो कि हमें समय-समय पर सम-सामायिक दिशाबोध प्रदान करती रहती हैं। उन्होंने इस ''दशधर्म'' पुस्तक में प्रत्येक धर्म का अलग-अलग विवेचन करते हुए प्रवचनकर्ता विद्वानों के लिए तथा पाठक भक्तों के लिए ऐसा संग्रह कर दिया है कि इसके पढ़ने मात्र से ही दशों धर्म का अच्छा परिज्ञान हो सकता है। उन्होंने इसमें सर्वप्रथम रइधू कवि द्वारा रचित अपभ्रंश भाषा की जयमाला और उसके अर्थ दिये हैं पुनः अपने द्वारा संस्कृत भाषा में रचित प्रत्येक धर्म की स्तुति और उनके अर्थों के द्वारा तो दशों धर्म का सैद्धान्तिक रहस्य ही खोल दिया है। उन्होंने जैन शास्त्रों के अनुसार हृदयद्रावक कथानकों को इसमें दर्शाया है, जिससे धर्म की महिमा के साथ-साथ साक्षात् धर्म का फल प्राप्त करने वाले महापुरुषों की दृढ़ता का भी परिचय प्राप्त होता है।

पूज्य गणिनी माताजी की यह मान्यता है कि धर्म प्रवचन की गद्दी पर बैठने वाले विद्वानों को कपोलकल्पित कथाओं, अश्लील एवं ग्रामीण उदाहरणों का प्रयोग अपने प्रवचनों में नहीं करने चाहिए क्योंकि हमारे धर्मग्रंथों में दशों धर्म के सैकड़ों कथानक भरे पड़े हैं, उन्हें ही यदि आधुनिक शैली में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जावे तो जहाँ उनकी श्रद्धा अपने देश के महापुरुषों एवं महासतियों के प्रति जागृत होगी वहीं उन धर्मग्रंथों के स्वाध्याय का भाव भी उनके हृदय में

उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा। हाँ, इतना अवश्य है कि देश के इतिहास से संबंधित सच्ची कहानियों को सुनाकर श्रोताओं में देश और धर्म के प्रति समर्पण की भावना जागृत करना चाहिए क्योंकि सम्राट् चन्द्रगुप्त के देखे गये स्वप्नानुसार इस पंचमकाल में धर्म के रथ को नव जवान कंधे ही चलायेंगे। वर्तमान में कारगिल के युद्ध ने भी देश के जवानों का जो समर्पण दिखलाया है वह हम सभी के लिए अनुकरणीय है।

वर्ष में तीन बार (भादों, माघ और चैत माह में) आने वाला दशलक्षण पर्व हमारे जैन समाज में एक बार भादों के महीने में ही विशेषरूप से मनाने की परम्परा चली आ रही है। सो इस पुस्तक के स्वाध्याय से आप सभी दशों धर्म के स्वरूप को सही रूप में जानें और अपने व्रतों के उद्यापन में इसे वितरित कर पुण्यलाभ प्राप्त करें यही पुस्तक प्रकाशन की सार्थकता है।

पुस्तक के अंत में दशों धर्म के सुंदर मुक्तक दिये गये हैं, वे भी धर्म के हृदय को खोलने में सक्षम हैं, उनका भी स्वाध्याय, चिंतन और मनन करें।

।।इति शुभम्।।

31 अगस्त 1999

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान–टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि–आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991, (22 अक्टूबर सन् 1934)

जाति–अग्रवाल दि. जैन, **गोत्र**–गोयल, **नाम**–कु. मैना

माता-पिता–श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत–ई. सन् 1952, बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन

क्षुल्लिका दीक्षा–चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से। नाम-क्षुल्लिका वीरमती

आर्यिका दीक्षा–वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व–अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं लगभग 300 ग्रंथों की लेखिका।

डी.लिट्. की मानद उपाधि–सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद द्वारा 8 अप्रैल 2012 को ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा–हस्तिनापुर में जंबूद्वीप, तेरहद्वीप, तीनलोक आदि रचनाओं के निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा-भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा, महावीर जी तीर्थ पर महावीर धाम में पंचबालयति मंदिर, शिर्डी में ज्ञानतीर्थ, सम्मेदशिखर में आचार्य श्री शांतिसागर धाम इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा–पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। विशेषरूप से 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।

शैक्षणिक प्रेरणा–'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार, ऑनलाइन जैन इनसाइक्लोपीडिया आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा–जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

–कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से सन् 1972 में राजधानी दिल्ली में हुई थी। संस्थान का मुख्य कार्यालय सन् 1974 से हस्तिनापुर में प्रारंभ हुआ। इस संस्थान के अन्तर्गत अनेक गतिविधियाँ हस्तिनापुर में तथा अन्यत्र चल रही हैं-

1. सन् 1972 से वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत प्रतिवर्ष लाखों ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं।

2. सन् 1974 से इस संस्थान के मुखपत्र के रूप में 'सम्यग्ज्ञान' हिन्दी मासिक पत्रिका का निरंतर प्रकाशन हो रहा है।

3. सन् 1974 से 1985 तक हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण कार्य हुआ।

4. सन् 1974 से अब तक जम्बूद्वीप रचना के अतिरिक्त अनेक जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है- कमल मंदिर, तीन मूर्ति मंदिर, ध्यान मंदिर, शांतिनाथ मंदिर, वासुपूज्य मंदिर, ॐ मंदिर, सहस्रकूट मंदिर, विद्यमान बीस तीर्थंकर मंदिर, आदिनाथ मंदिर, अष्टापद मंदिर, ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ, स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना, तीन लोक रचना, नवग्रहशांति जिनमंदिर, चौबीस तीर्थंकर मंदिर एवं श्री शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग प्रतिमाओं की स्थापना ।

5. जम्बूद्वीप पुस्तकालय जिसमें लगभग 15000 ग्रंथ संग्रहीत हैं।

6. णमोकार महामंत्र बैंक जिसमें भक्तों द्वारा लिखकर भेजे गये करोड़ों णमोकार मंत्र जमा किये जाते हैं।

7. समय-समय पर शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों तथा संगोष्ठियों के आयोजन किये जाते हैं।

8. यात्रियों के शुद्ध भोजन के लिए राजा श्रेयांस भोजनालय का संचालन।

9. यात्रियों के ठहरने के लिए आधुनिक सुविधायुक्त डीलक्स फ्लैट्स वाली कई धर्मशालाओं तथा कोठियों एवं बंगलों का निर्माण किया गया है।

10. जम्बूद्वीप परिक्रमा के लिए नौका विहार, ऐरावत हाथी तथा मनोरंजन हेतु मिनी ट्रेन, झूले आदि हैं।

11. तीर्थंकर जन्मभूमियों की वंदना एवं धार्मिक फिल्मों का प्रदर्शन करने वाले थियेटर से समन्वित गणिनी ज्ञानमती हीरक जयंती एक्सप्रेस।

12. गणिनी ज्ञानमती दिगम्बर जैन पत्राचार परीक्षा केन्द्र का संचालन।

13. इंटरनेट पर जैनधर्म के इन्साइक्लोपीडिया (www.encyclopedia ofjainism. com) का निर्माण।

दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, हरिद्वार, झाँसी, तिजारा आदि से जम्बूद्वीप स्थल तक आने के लिए दिन भर बसें मिलती रहती हैं।

दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार में भव्य नंद्यावर्त महल तीर्थ, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में निर्मित तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ तथा महावीर जी अतिशय क्षेत्र के महावीर धाम परिसर में निर्मित पंचबालयति दिगम्बर जैन मंदिर का संचालन होता है। वर्तमान में इस संस्थान के अन्तर्गत सम्मेदशिखर जी तीर्थ पर ''आचार्य श्री शांतिसागर धाम'' का निर्माण प्रारंभ किया जा रहा है।

जम्बूद्वीप एवं अन्य रचनाओं के दर्शन हेतु हस्तिनापुर पधारकर आध्यात्मिक एवं भौतिक सुख की प्राप्ति करें।

दशधर्म

सिद्धिप्रासादनिःश्रेणीपंक्तिवत् भव्यदेहिनाम्।
दशलक्षणधर्मोऽयं नित्यं चित्तं पुनातु नः।।1।।

भव्य जीवों के सिद्धिमहल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की पंक्ति के समान यह दशलक्षणमय धर्म नित्य ही हम लोगों के चित्त को पवित्र करे।

इन दशधर्मों के उपासना के पर्व को दशलक्षण पर्व कहते हैं। चूँकि इसमें उपवास आदि के द्वारा आत्मा को पवित्र बनाया जाता है। यह पर्व भाद्रपद में मुख्यरूप से मनाया जाता है। भाद्रपद मास सर्वमासों में श्रेष्ठ है। कहा भी है–

अहो भाद्रपदाख्योऽयं मासोऽनेकव्रताकरः।
धर्महेतुपरो मध्येऽन्यमासानां नरेन्द्रवत्[1]।।1।।

जिस प्रकार मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार से सर्व महीनों में यह भाद्रपद नाम का महीना श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अनेकों व्रतों की खान है और धर्म का प्रधान कारण है।

इस महीने में सबसे अधिक व्रत आते हैं। षोडश कारण, श्रुतस्कंध, जिनमुखावलोकन और मेघमाला ये चार व्रत तो पूरे महीने भर किये जाते हैं तथा दशलक्षण, रत्नत्रय, पुष्पांजलि, आकाश पंचमी, सुगंधदशमी, अनंत-चतुर्दशी, चंदनषष्ठी, निर्दोषसप्तमी, तीस चौबीसी, रुक्मिणीव्रत, निःशल्य-अष्टमी, दुग्धरसि, धनदकलश, शीलसप्तमी, कांजीबारस, लघु मुक्तावली, त्रिलोकतीज और श्रावणद्वादशी ये व्रत सम्पन्न किये जाते हैं।

इन सभी कारणों से दशलक्षण पर्व अपने आप में बहुत ही महान है, यह बहुत ही उल्लासपूर्ण वातावरण में मनाया जाता है। इन दिनों में सर्वत्र ही धर्म का निर्झर बहने लगता है।

कुछ विद्वान्[2] लोग इस पर्व के प्रारंभ में ऐसा कहते हैं कि इस पर्व का प्रारंभ भाद्रपद शुक्ला पंचमी से होता है। अतः इस पर्व का आरंभ दिन सृष्टि का आदि

1. मल्लिपुराण। 2. डॉ. नेमिचंद्र ज्योतिषाचार्य, व्रततिथिनिर्णय, पृ. 37।

दिन है। क्योंकि छठे काल के अंत में भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखंड में प्रलय होती है। यथा–

'छठे काल के अंत में संवर्त नामक पवन, पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि को चूर्णकर समस्त दिशा और क्षेत्र में भ्रमण करता है। इस पवन के कारण समस्त जीव मूर्छित हो जाते हैं। देवों द्वारा 72 युगल तथा अन्य कुछ जीवों के अतिरिक्त समस्त प्राणियों का संहार हो जाता है। इस काल के अंत में पवन, अत्यंत, शीत, क्षाररस, विष, कठोर अग्नि, धूलि और धुआँ की वर्षा एक-एक सप्ताह तक होती है। इसके बाद उत्सर्पिणी काल का प्रवेश होता है अर्थात् नवीन युग का आरंभ होता है।[1]

छठे काल का अन्त आषाढ़ी पूर्णिमा को होकर नवीन युग का आरंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को अभिजित नक्षत्र के होने पर होता है। अतः आषाढ़ी पूर्णिमा के बाद श्रावणी प्रतिपदा से 49वाँ दिवस भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी है। इस क्रम से भाद्रपद शुक्ला पंचमी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरंभ का दिन हो जाता है। इस निमित्त से सृष्टि की आदि का दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी हो गया। इसी दिन की स्मृति में यह पर्व आरंभ हुआ है।

कुछ लोग इसी दिन को सृष्टि की आदि समझ लेते हैं, सो बात नहीं है। यद्यपि उत्सर्पिणी की आदि में सृष्टि की आदि दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी है तो भी छठे काल के बाद पाँचवाँ काल आता है पुनः चौथा काल आता है। उस चतुर्थ काल की आदि में तीर्थंकर होते हैं तभी से धर्म की परम्परा चलती है। ऐसे ही अवसर्पिणी में प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल के बाद चतुर्थ काल की आदि में तीर्थंकर के होने पर धर्म परम्परा चलती है। अतः उस सृष्टि के दिन की स्मृति मात्र को समझना।

वैसे यह बात युक्ति से कथंचित् संगत है फिर भी यह पर्व वर्ष में तीन बार आता है। माघ, चैत्र और भाद्रपद। दूसरी बात यह है कि इस दशलक्षण व्रत की कथा में धातकी खण्ड के पूर्व विदेह में विशाला नगरी में चार कन्याओं को मुनिराज ने यह व्रत दिया था, ऐसा कहा है। इससे यह व्रत विदेह में भी चलता है जहाँ कि प्रलय की कोई बात नहीं है अतः यह व्रत अनादि निधन है, ऐसा समझना।

इस दशलक्षण पर्व में दश दिन क्रम से दश धर्मों की उपासना की जाती है।

1. त्रिलोकसार।

उत्तम क्षमा धर्म

उत्तम—खम मद्दउ अज्जउ सच्चउ, पुणु सउच्च संजमु सुतउ।
चाउ वि आकिंचणु भव-भय-वंचणु बंभचेरू धम्मु जि अखउ।।
उत्तम—खम तिल्लोयहँ सारी, उत्तम-खम जम्मोदहितारी।
उत्तम—खम रयण-त्तय-धारी, उत्तम-खाम दुग्गइ-दुह-हारी।।
उत्तम—खम गुण-गण-सहयारी, उत्तम खम मुणिविंद-पियारी।
उत्तम—खम बुहयण-चिन्तामणि, उत्तम-खम संपज्जइ थिर-मणि।।
उत्तम—खम महणिज्ज सयलजणि उत्तम-खम मिच्छत्त-तमो-मणि।
जहिं असमत्थहं दोसु खमिज्जइ जहिं असमत्थहंण उ रूसिज्जइ।।
जहिं आकोसण वयण सहिज्जइ,जहिं पर-दोसु ण जणि भासिज्जइ।
जहिं चेयणगुण चित्त धरिज्जइ, तहिं उत्तम-खम जिणें कहिज्जइ।।

—घत्ता—

इय उत्तम-खम-जुय णर-सुर-खग-णुय केवलणाणु लहेवि थिरू।
हुय सिद्ध णिरंजणु भव-दुह-भंजणु अगणिय-रिसि-पुंगव जि चिरू।।

अर्थ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दर्श-धर्म अक्षय—अविनाशी हैं और संसार के भय को दूर करने वाले हैं।

उत्तम क्षमा तीन लोक में सार है, उत्तम क्षमा जन्मरूपी समुद्र से पार करने वाली है, उत्तम क्षमा रत्नत्रय को प्राप्त कराने वाली है और उत्तम क्षमा दुर्गति के दुःखों का हरण करने वाली है।

उत्तम क्षमा सर्व गुण—समूह की सहचारिणी है, उत्तम क्षमा मुनियों को अतीव प्रिय है, उत्तम क्षमा बुद्धिमानों के लिये चिंतामणि के समान है और यह उत्तम क्षमा मन को स्थिर करने पर ही प्राप्त होती है।

उत्तम क्षमा सभी जनों के द्वारा पूज्य है, उत्तम क्षमा मिथ्यात्वरूपी अंधकार को नष्ट करने में मणि अथवा सूर्य के समान है, जहाँ पर असमर्थ लोगों के दोष क्षमा किये जाते हैं, जहाँ पर असमर्थ व्यक्तियों पर रोष नहीं किया जाता है।

जहाँ आक्रोश-गाली आदि के कठोर वचन सहन किये जाते हैं, जहाँ दूसरों के दोष अन्य लोगों के सामने नहीं कहे जाते हैं और जहाँ चेतन आत्मा के गुण चित्त में धारण किये जाते हैं वहीं पर उत्तम क्षमा होती है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव

ने कहा है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा से युक्त मनुष्य, देव और विद्याधरों से नमस्कृत ऐसे अगणित उत्तम ऋषियों ने अविनश्वर केवलज्ञान को प्राप्त कर भव दुःख भंजन, निरंजन ऐसे सिद्ध पद को प्राप्त कर लिया है।

सर्वं यो सहते नित्यं क्षमादेवीमुपास्य सः।
पार्श्ववत् जायते जित्वोपसर्गांश्च परीषहान्।।1।।

शांतिः कि स्यात्क्रुधा किं नु नश्येत् वैरं हि वैरतः।
रक्तेन रञ्जितं वस्त्रं, किं रजसा विशुद्ध्यति।।2।।

अपकर्त्रे हि कोपश्चेत्, किं न कोपाय कुप्यसि।
क्रोधोऽयं ते महाशत्रुर्लोकद्वयविनाशकृत।।3।।

मुनयः पांडवाद्याश्च प्राणहारिरिपूनपि।
क्षान्त्वा सर्वसहाः सिद्धा जातास्तेभ्यो नमोऽस्तु मे।।4।।

द्रव्यं भावं द्विधा क्रोधं भित्वाहं स्वात्मचिंतनात्।
उत्तमक्षांतियुक्स्वात्मज्ञानं लप्स्ये सुखं ध्रुवम्।।5।।

'क्षमूष्' धातु सहन करने अर्थ में है उस से यह 'क्षमा' शब्द बना है। तत्त्वार्थसूत्र महाग्रन्थ में मुनियों के संवर के प्रकरण में इन दश धर्मों को लिया है। वहाँ पर भाष्यकार श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि—संवर का प्रथम कारण तो प्रवृत्ति के निग्रह हेतु है किन्तु जो वैसा करने में असमर्थ हैं उन्हें प्रवृत्ति का उपाय दिखलाने के लिये दूसरा कारण कहा गया है। जो साधु समिति में प्रवृत्त हैं उनके प्रमाद को दूर करने हेतु ये दश धर्म कहे गये हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं। इन धर्मों में 'उत्तम' विशेषण लोकैषणा, दुष्ट प्रयोजन आदि के परिहार के लिये हैं।

'शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलाभ्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशप्रहस-नावज्ञा ताडनशरीरव्यापादनादीनां सन्निधानेकालुष्यानुत्पत्तिःक्षमा[1]।'

शरीर की स्थिति का हेतु जो आहार उसके खोजने के लिये अर्थात् आहार के लिये निकले हुये साधु परघरों में जा रहे हैं उस समय नग्न देखकर दुष्ट जन उन्हें गाली देते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और

1. सर्वार्थसिद्धि अ. 9, सूत्र 6।

शरीर को पीड़ित करते हैं, नष्ट करते हैं तो भी उस किसी प्रसंग में अपने परिणामों में कलुषता की उत्पत्ति न होना क्षमा है। इस प्रकार से साधु तो पूर्णरूप से क्षमा धर्म का पालन करते हैं किन्तु श्रावक भी एकदेशरूप से इन क्षमा आदि धर्मों का पालन करते हैं। ये धर्म तो सभी सम्प्रदायों में मान्य हैं किसी भी सम्प्रदाय वालों को इनमें विवाद नहीं है।

आचार्यों ने क्रोध को अग्नि की उपमा दी है उसे शांत करने के लिये क्षमा जल ही समर्थ है। जैसे जल का स्वभाव शीतल है वैसे ही आत्मा का स्वभाव शांति है। जैसे अग्नि से संतप्त हुआ जल भी जला देता है वैसे ही क्रोध से संतप्त हुई आत्मा के धर्मरूपी सार जलकर खाक हो जाता है। क्रोध से अंधा हुआ मनुष्य पहले अपने आपको जला लेता है पश्चात् दूसरों को जला सके या नहीं भी। क्षमा के लिये बहुत उदार हृदय चाहिये, चंदन घिसने पर सुगन्धि देता है, काटने वाले कुठार को भी सुगन्धित करता है और गन्ना पिलने पर रस देता है। उसी प्रकार से सज्जन भी घिसने-पिलने से ही चमकते हैं। देखो! अग्निमय स्थान टिकता नहीं है, खाक हो जाता है किन्तु जलमय स्थान टिके रहते हैं तभी तो असंख्यातों समुद्र और नदियाँ जहाँ की तहाँ स्थिर हैं।

कषायों की वासना काल को समझकर हमेशा अपने अंतरंग का शोधन करते रहना चाहिये। अनंतानुबंधी कषाय अनंत संसार का कारण है। यह मिथ्यात्व की सहचारिणी है इसका काल संख्यात, असंख्यात और अनंत भव है। भव-भव में बैर को बाँधते चले जाना भी इसी का काम है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय एक देशव्रत को भी नहीं होने देती है। इसका वासना काल अधिक से अधिक छह महीना है। सम्यग्दृष्टि को अधिक से अधिक इतनी वासना रह सकती है। प्रत्याख्यानावरण महाव्रत नहीं होने देता है, इसका वासना काल पन्द्रह दिवस का है। व्रती श्रावकों में अधिक से अधिक इतने दिन तक बैर के संस्कार रह सकते हैं। संज्वलन की वासना का अंतर्मुहूर्त मात्र काल है इसलिये साधु यदि किसी पर क्रोध भी करते हैं तो भी अंतर्मुहूर्त के बाद उसके प्रति दया और क्षमा का भाव जाग्रत हो जाता है।

'जो क्षमादेवी की उपासना करके हमेशा सभी कुछ सहन कर लेता है वह उपसर्गों और परीषहों को जीतकर पार्श्वनाथ तीर्थंकर के सदृश महान् हो जाता है। क्या क्रोध से शांति हो सकती है ? क्या बैर से बैर का नाश हो सकता है? क्या खून से रंगा हुआ वस्त्र खून से ही साफ हो सकता है ? यदि अपकार करने

वाले के प्रति तुझे क्रोध आता है तो फिर तू क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करता है ? क्योंकि यह क्रोध तो तेरे दोनों लोकों का विनाश करने वाला महाशत्रु है। पांडव, गजकुमार आदि महामुनि अपने प्राणों का घात करने वाले महाशत्रुओं को भी क्षमा करके 'सर्वंसह' सिद्ध हो गये हैं उनको मेरा नमस्कार होवे। द्रव्य और भाव इन दो प्रकार के क्रोध को मैं अपने आत्मचिंतन के बल से भेदन करके उत्तम क्षमा से युक्त अपने ज्ञान और सौख्य को निश्चितरूप से प्राप्त करूँगा।।1 से 5।। हमेशा ऐसी भावना भाते रहना चाहिये।

क्षमामूर्ति भगवान् पार्श्वनाथ

कमठ और मरुभूति सगे भाई थे। ये पोदनपुर के राजा अरविन्द के मंत्री थे। कमठ ने किसी समय छोटे भाई मरुभूति की पत्नी से व्यभिचार किया तब राजा ने उसे दंडित कर देश से निकाल दिया। वह तापसाश्रम में जाकर कुतप करने लगा। मरुभूति भाई के प्रेम से एक बार उससे मिलने गया तब उसने उस भाई के प्रति अकारण क्रोध करके हाथ की शिला उस पर पटक दी जिससे वह मर गया और सल्लकी वन में हाथी हो गया। किसी एक दिन अरविन्द महाराज ने विरक्त हो दीक्षा ले ली। वे संघ लेकर सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये जाते हुये उसी वन में ठहरे। उन्हें ध्यान में स्थित देख यह हाथी मारने के लिय दौड़ा। किन्तु उनके वक्षस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह देखकर जाति- स्मरण को प्राप्त होकर शांत हो गया। मुनिराज ने उसे उपदेश देकर सम्यक्त्व और पाँच अणुव्रत ग्रहण करा दिये। यह उस दिन से व्रती श्रावक बन गया, सूखे पत्ते आदि खाकर अपना पेट भरने लगा। कालांतर में एक नदी के कीचड़ में फँस गया। उसके पूर्व भव के भाई कमठ का जीव मरकर कुक्कुट सर्प हुआ था उसने आकर उस समय उसे डस लिया। यह हाथी महामंत्र के स्मरणपूर्वक प्राण छोड़कर बारहवें स्वर्ग में देव हो गया और वह सर्प मरकर पाँचवें नरक चला गया। पुनः यह मरुभूति का जीव देव पर्याय से चयकर विद्याधर हुआ, पुनः अच्युत स्वर्ग में गया वहाँ से आकर वज्रनाभि चक्रवर्ती हुआ, पुनः अहमिंद्र हुआ, वहाँ से आकर आनन्द नामक राजा होकर सोलहकारण भावना भाकर आनत इंद्र हुआ, वहाँ से आकर भगवान् पार्श्वनाथ हुये हैं। यह कमठ का जीव नरक से निकल कर अजगर सर्प हुआ, पुनः नरक गया, पुनः भिल्ल हुआ, पुनः नरक गया, पुनः सिंह हुआ, पुनः नरक गया, वहाँ से आकर महीपाल राजा होकर पंचाग्नि तप करके शंबर नामक

ज्योतिषी देव हो गया। इसने हर मनुष्य व तिर्यंच पर्याय में मरुभूति के जीव पर उपसर्ग किया है, पुनः अंत में पार्श्वनाथ भगवान् के ऊपर घोर उपसर्ग किया है। प्रभु उपसर्ग सहकर केवली हुये हैं। इस प्रकार से जो सहन करके क्षमा धारण करते हैं वे पार्श्वनाथ जैसे महान् बन जाते हैं और जो क्रोध के वशीभूत रहते हैं वे कमठ जैसे महादुःखों को उठाते रहते हैं।

ऐसे ही पाँचों पांडव महामुनियों ने भी शत्रु द्वारा लोहे के तप्त आभूषण पहनाये जाने पर भी क्षमा भाव नहीं छोड़ा है। अनेकों महासाधुओं के तो उदाहरण हैं ही, श्रावकों व श्राविकाओं के भी बहुत से उदाहरण हैं। तुंकारी ब्राह्मणी की कथा प्रसिद्ध ही है।

तुंकारी की क्षमा

"मणिवत" नाम के एक महामुनि अनेक देशों में विहार करते हुये किसी समय उज्जैन के बाहर श्मशान में ठहर गये। रात्रि के समय मृतक शय्या द्वारा ध्यान कर रहे थे। इतने में वहाँ एक कापालिक वैताली विद्या सिद्ध करने के लिये आया। उसे चूल्हा बनाने के लिये तीन मुर्दे चाहिये थे। अतः वह कुछ दूर पड़े हुये दो मुर्दों को घसीट लाया और इन महामुनि को भी मुर्दा समझ कर उसने तीनों के सिर का चूल्हा बना दिया। उस चूल्हे पर उसने नर कपाल रखा और आग जलाकर कुछ नैवेद्य पकाने लगा। थोड़ी देर बाद जब आग जोर से जलने लगी तब जीवित मुनिराज के सिर की नसें जलने लगीं और तीव्र वेदना से उनका हाथ ऊपर की ओर उठ गया जिससे सिर पर रखा कपाल गिर गया और आग भी बुझ गई। इधर इस घटना से कापालिक ने भूत आया समझा और वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

मुनिराज मेरु के समान अचल पड़े-पड़े आत्मतत्त्व का चिंतवन कर रहे थे। प्रातः होते ही आते-जाते किसी ने मुनिराज की यह दशा देखी तो झट दौड़कर मुनिभक्त सेठ जिनदत्त को सारा हाल सुना दिया। जिनदत्त सेठ उसी समय दौड़े आये, मुनिराज के इस उपसर्ग को देखकर बहुत ही दुःखी हुये। तत्क्षण ही उन्हें अपने घर ले आये और वैद्य को बुलाकर इलाज के लिए पूछा। वैद्य ने कहा—

"हे सेठ ! सोमशर्मा भट्ट के यहाँ -लक्षपाक' नाम का बहुत ही बढ़िया तेल है उसे लाकर लगाओ, उससे बहुत ही जल्दी आराम हो जायेगा। इतने अधिक जले का इसके अतिरिक्त और कोई इलाज नहीं है।"

सेठ जिनदत्त उसी क्षण सोमशर्मा के घर पहुँचे। सोमशर्मा ब्राह्मण तो कहीं बाहर गया था अतः उनकी पत्नी से सेठ जी ने तेल देने की प्रार्थना की। उस ब्राह्मणी ने ऊपर एक कमरे में ले जाकर कहा—

"सेठ जी! यह अनेक घड़े तेल से भरे हुये रखे हैं इनमें से एक घड़ा तेल ले जाओ।"

जिनदत्त ने एक घड़ा उठाकर सिर पर रखा और सीढ़ियों से उतरने लगा किन्तु अकस्मात् उनके हाथ से घड़ा गिर गया और फूट गया। जिनदत्त को बहुत ही डर लगा, अब क्या होगा ? पुनः डरते-डरते उसने ब्राह्मणी से घड़ा फूटने की बात कही, तब ब्राह्मणी ने कहा—

"कोई बात नहीं, जाओ दूसरा घड़ा ले जाओ।"

सेठ के हाथ से पुनः दूसरा घड़ा भी फूट गया, बेचारे बहुत घबड़ाये फिर भी ब्राह्मणी ने शान्ति से कहा—

"जावो, तीसरा घड़ा ले आवो।"

तीसरा घड़ा भी गिर कर फूट गया तब तो बेचारे सेठ जी थर-थर काँपने लगे। किन्तु ब्राह्मणी ने कहा—

"सेठ जी! चिन्ता की कोई बात हीं है तुमने जानकर तो घड़े फोड़े नहीं हैं, शांति रखो चौथा घड़ा ले जावो, देखों तुम्हें जितने भी तेल की जरूरत हो ले जाना, डरना नहीं।"

अब बेचारे सेठ जी बहुत ही संभल कर चले और चौथा घड़ा तेल का लेकर अपने घर आ गये। मुनिराज के जले घावों पर लगाया तब उन्हें कुछ शान्ति हुई। किन्तु वे मन में सोचने लगे—

"अहो ! कोई भी महिला हो या पुरुष, उसका इतना बड़ा नुकसान हो जाने पर उसे गुस्सा आये बगैर नहीं रह सकता। उस ब्राह्मणी में भला इतनी शान्ति, इतनी क्षमा कहाँ से आ गई ?"

सेठ जी पुनः सोमशर्मा के घर आये और ब्राह्मणी से पूछा—

"हे माँ ! मेरे द्वारा इतना बड़ा अपराध होने पर भी तुम्हें क्रोध नहीं आया?"

ब्राह्मणी ने कहा—

"सेठ जी ! क्रोध का फल जैसा चाहिये वैसा मैं भोग चुकी हूँ इसलिए क्रोध के नाम से ही मेरा जी काँप उठता है।"

पुनः सेठ की जिज्ञासा होने पर उसने कहना शुरू किया—

"सेठ जी सुनिये ! चंदनपुर में एक शिवशर्मा ब्राह्मण रहता है। वह बहुत ही धनवान है और राजा का आदर पात्र हैं उसकी भार्या का नाम कमलश्री है। उनके आठ पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्री का नाम भट्टा रखा सो मैं ही हूँ। मैं बहुत सुन्दर थी पर मुझ में एक यह अवगुण था कि मैं अत्यन्त घमन्डी थी और बोलने में बहुत तेज थी इसलिए सभी लोग मुझ से डरते थे और किसी को मुझे "तू" कहने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। यदि कदाचित् कोई मुझे "तू" कह कर पुकार दे तो मैं लड़-झगड़ कर उसकी सौ पीढ़ियों तक गालियाँ दे डालती, जिससे भयंकर तूफान खड़ा हो जाता। उससे विपरीत मेरे पिताजी लड़ाई-झगड़े से बहुत डरते थे तथा राजा के द्वारा बहुत सम्मान मिलते रहने से वे निर्भीक भी थे। अतः एक बार उन्होंने शहर में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि—

"कोई भी मेरी बेटी को "तू" कहकर न पुकारे।"

पिताजी ने जो अच्छा ही किया था किन्तु मेरे दुर्भाग्य से वह उल्टा हो गया। उस दिन से मेरा नाम ही "तुंकारी" पड़ गया और सभी लोग मुझे इस नाम से चिढ़ाने लगे। मैं चिढ़ती, लड़ती-झगड़ती और लोगों को गालियाँ देने लगती थी। युवावस्था में आने पर नतीजा यह निकला कि मेरे से कोई भी विवाह करने को तैयार नहीं हुआ। बहुत दिन बाद मेरे भाग्य से इन सोमशर्मा ब्राह्मण ने इस बात की प्रतिज्ञा की कि—

"इन्हें "तू" कहकर नहीं पुकारूँगा।"

तब पिताजी की चिन्ता मिटी और मेरा विवाह सम्पन्न हो गया, मैं यहाँ अपने ससुराल आ गई। मैं इस घर में बहुत दिनों तक सुखपूर्वक रही।

एक दिन की घटना है मेरे पतिदेव रात्रि में नाटक देखते रहे और बहुत देर से आये। दरवाजा खोलो-खोलो, पुकारने लगे। उस समय मुझे बहुत ही गुस्सा आ रहा था इसलिए दरवाजा खोलने नहीं उठी। पतिदेव भी जब दरवाजा खटखटाते और पुकारते-पुकारते थक गये तब उन्हें बहुत गुस्सा आया और बोले—

"अरे 'तू' सुनती नहीं है। मैं इतनी देर से बाहर खड़ा चिल्ला रहा हूँ।" बस पति के मुख से "तू" निकलते ही मैं आपे से बाहर हो गई। बड़ों की सूक्ति ठीक ही है कि—"पड़ा स्वभाव न जाये कभी जीव से। करेलो मीठो न होय सींचों गुड़-घी से।" उस समय मैं क्रोध से अंधी हो गई और दरवाजा खोलकर घर के बाहर भाग निकलीं, उस क्षण मुझे कुछ न सूझा कि मैं कहाँ जा रही हूँ। मैं दौड़ते

हुये शहर के बाहर जंगल की ओर निकल गई। इसी बीच जंगल में चोरों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मेरे सब कीमती गहने-जेवर उतार लिये और विजयसेन भील को सौंप दिया। उस भील ने मुझे सुन्दर देखकर मेरा शील भंग करना चाहा किन्तु मेरी दृढ़ता के प्रभाव से किसी दिव्यस्त्री ने आकर मेरे शील की रक्षा की। तब उस भील ने डरकर मुझे एक सेठ को सौंप दिया। सेठ ने भी मेरा शील भंग करना चाहा पर उस समय भी दैवी शक्ति ने मेरी रक्षा की। तत्पश्चात् उस सेठ ने मुझे एक रंगरेज मनुष्य के हाथ सौंप दिया। यह रंगरेज नित्य ही जीवों के खून से रंगकर कंबल तैयार करता था। वह दुष्ट मनुष्य मेरे शरीर पर बहुत सी जौंके लगा-लगाकर मेरा रोज-रोज बहुत सा खून निकाल लेता था और फिर उसमें कंबल रंगा करता था। इस दुःख को भोगते हुये मेरे कितने ही दिन निकल गये थे।

एक दिन मेरा भाई इधर से निकला कि अचानक मैंने उसे देख लिया और जोर से बुलाया किन्तु वह मेरी इस दुर्दशा में जल्दी पहचान भी न सका जब उसने मेरे मुख से सारा हाल सुना तब वह रो पड़ा। पुनः उसने मुझे धैर्य बँधाया और उसी क्षण उसने राजा के पास जाकर मेरा परिचय बताकर उस पापी रंगरेज से मेरा उद्धार किया। वहाँ से लाकर मेरे भाई ने पुनः मेरे पतिदेव को समझा-बुझाकर यहाँ पहुँचा दिया। इस समय मेरे शरीर का प्रायः सारा खून निकल चुका था इसलिए मुझे लकवे की बीमारी हो गई। तब वैद्य ने यह लक्षपाक तेल बनाकर मुझे बचाया है।

इसके बाद मैंने एक वीतरागी निर्ग्रंथ मुनि के मुख से धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया है और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी कर ली है कि अब मैं किसी पर भी क्रोध नहीं करूँगी। अतः अब मैं बहुत ही शान्त रहती हूँ जिससे मुझे स्वयं बहुत ही सुख का अनुभव होता है। मैं मन में किसी के प्रति क्रोध भाव नहीं लाती हूँ जिससे मेरे मस्तिष्क में बहुत शान्ति रहती है।

सेठ जिनदत्त इस सच्ची घटना को सुनकर बहुत प्रभावित हुये और उस ब्राह्मणी की बहुत-बहुत प्रशंसा करते हुये अपने घर आकर मुनिराज की परिचर्या में लग गये।

सचमुच में, क्रोध का फल इस भव में तो बुरा है ही, परभव में भी बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाला है।

रामचन्द्र की क्षमा

जब रामचन्द्र जी वन में विचरण कर रहे थे अरुण ग्राम में कपिल ब्राह्मण के यहाँ पहुँचे, सीता प्यास से व्याकुल थी। कपिल की पत्नी ने पानी पिलाया उसी समय कपिल आकर गाली बकने लगा। लक्ष्मण को गुस्सा आया उन्होंने उसे उठाकर उल्टा कर दिया और जमीन में पटकना चाहा तब श्री रामचन्द्र ने कहा वत्स! इसे क्षमा कर दो। कुछ दिन बाद वह ब्राह्मण रामपुरी नगरी में राम के दर्शन करने गया। उन्हें पहचान कर डर कर भागने लगा तब श्रीराम ने उसे बुलाकर सम्मान करके खूब मालामाल कर दिया।

शरणागत शत्रु भी हो वह भी क्षमा के योग्य है। महाभारत में बताया है कि युद्ध के समय जो कौरव-पांडवों में शर्तें हुई थीं उसमें एक यह थी कि सूर्यास्तोत्तर समय युद्ध बंद हो जाये और एक यह थी कि युद्ध बंद होने के बाद दोनों पक्ष के लोग आपस में मिलें। आपस में पहले राजा लोग युद्ध भूमि में लड़ते थे और अनन्तर एक दूसरे से सौहार्द स्थापित करते थे। यह यमराज कभी भी आकर आपको अपना ग्रास बना सकता है। इसलिये क्षमा धर्म के लिये आजकल की प्रतीक्षा न करो जिससे आपकी कषाय हो उसे प्रेमभाव से क्षमा कर दो और करालो—यही इस धर्म को सुनने का सार है। क्षमा में बहुत ही निराकुलता और आत्म शांति रहती है।

क्रोध से संचित हुई शक्ति आत्मा को जला देती है जैसे कि आतिशी शीशा से छनकर सूर्य की किरणें केन्द्रित होकर वस्त्र में आग लगा देती हैं तथा क्षमारूप शक्ति आध्यात्मिक ऋद्धियों को, आत्मिक तेज को प्रगट करती है। अतः जो तुम्हें अच्छा लगे उसी को अपनाओ। शास्त्रों के स्वाध्याय और महामंत्र के स्मरण के बल से क्रोध को सहज ही जीता जा सकता है। आज जो भाई-भाई में कलह, बाप-बेटे में कलह, माँ-बेटी में बैर, पति-पत्नी में अलगाव दिखते हैं, वे सब असहनशीलता के ही परिणाम हैं। यदि आपस में छोटी-छोटी बातों को सहन करना सीख लें और आपस में क्षमा भाव धारण करना सीख लें तो परस्पर में स्नेह का पूरा प्रवाह सदैव बहता रहे और सबका हृदय आनन्द रस से प्लावित रहे। इसलिये छोटी-छोटी बातों में क्रोध करने की आदत छोड़कर प्रेम का वातावरण निर्मित करके समाज, देशऔर घर में शान्ति की स्थापना करनी चाहिए। आज के इस संघर्षमयी राष्ट्र में सहनशीलता की, क्षमा की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इस धर्म के बल से ही देश में सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जाप्य—**ॐ ह्रीं अर्हं उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय नमः।**

उत्तम क्षमादि दश-धर्म

यह भादों मास सभी महीनों, में राजा है उत्तम जग में।
यह धर्म हेतु है और अनेक, व्रत रत्नों का सागर सच में।।
यह महापर्व है दशलक्षण, दशधर्म मय मंगलकारी।
रत्नत्रय निधि को देता है, सोलहकारणमय सुखकारी।।

उत्तम क्षमा

सब कुछ अपराध सहन करके, भावों से पूर्ण क्षमा करिये।
यह उत्तम क्षमा जगन्माता, इसकी नितप्रति अर्चा करिये।।
कमठासुर ने भव भव में भी, उपसर्ग अनेकों बार किया।
पर पार्श्वप्रभू ने सहन किया, शान्ति का ही उपचार किया।।1।।

क्या बैर से बैर मिटा सकते, क्या रज से रज धुल सकता है?
क्या क्रोध से भी शान्ति मिलती, क्या क्रोध सुखी कर सकता है?
यदि अपकारी पर क्रोध करो, तो क्रोध महा अपकारी है।
इस क्रोध पे क्रोध करो बंधु, यह शत्रु महा दुखकारी है।।2।।

यह क्रोध महा अग्नि क्षण में, संयम उपवन को भस्म करे।
यह क्रोध महा चांडाल सदृश, आत्मा की शुचि अपहरण करे।।
पांडव आदि मुनियों ने भी, इस क्षमा को मन में धारा था।
मुनिगण ने सर्वसह असि से, इस क्रोध शत्रु को मारा था।।3।।

यह क्रोध अनंत अनुबंधी, अगणित भव तक संस्कार रहे।
अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, छह महीने ऊपर नहीं रहे।।
यह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, पन्द्रह दिन तक रह सकता है।
संज्वलन क्रोध अंतर्मुहूर्त, से अधिक नहीं टिक सकता है।।4।।

उदयागत क्रोध द्रव्य पुद्गल, इसको भी निज से भिन्न करूँ।
फिर निज में ही स्थिर होकर, सब भाव क्रोध को छिन्न करूँ।।
निज उत्तम क्षमा स्वभावमयी, निज को निज में पा जाऊँ मैं।
पर से सम्बन्ध पृथक् करके, निज पूर्ण सौख्य प्रगटाऊँ मैं।।5।।

उत्तम मार्दव धर्म

मद्दउ-भाव-मद्दणु माण-णिंकदणु दय-धम्महु मूल जि विमलु।
सव्वहं-हिययारउ गुण-गण-सारउ तिसहु वउ संजम सहलु।।
मद्दउ माण-कसाय-बिहंडणु, मद्दउ पंचिंदिय-मण-दंडणु।
मद्दउ धम्मे करुणा-बल्ली, पसरइ चित्त-महीहिं णवल्ली।।
मद्दउ जिणवर-भत्ति पयासइ, मद्दउ कुमइ-पसरूणिण्णासइ।
मद्दवेण बहुविणय पवट्टइ-मद्दवेण जणवइरू उहट्टइ।।
मद्दवेण परिणाम-विसुद्धी, मद्दवेण विहु लोयहं सिद्धी।
मद्दवेण दो-विहु तउ सोहइ, मद्दवेण णरु जितगु विमोहइ।।
मद्दउ जिण-सासण जाकिज्जइ, अप्पा-पर-सरूव भाविज्जइ।
मद्दउ दोस असेस णिवारइ, मद्दउ जम्म-उअहि उत्तारइ।।

—घत्ता—

सम्मद्दंसण-अंगु मद्दउ परिणामु जि मुणहु।
इय परियाणि विचित्त मद्दउ धम्मु अमल थुणहु।।

अर्थ—मार्दव धर्म संसार का नाश करने वाला है, मान का मर्दन करने वाला है, दया धर्म का मूल है, विमल है, सर्वजीवों का हितकारक है और गुण गणों में सारभूत है। इस मार्दव धर्म से ही सकल व्रत और संयम सफल होते हैं। मार्दव धर्म मान कषाय को दूर करता है, मार्दव धर्म पाँच इन्द्रिय और मन का निग्रह करता है, चित्तरूपी पृथ्वी के आश्रय से करुणारूपी नूतन बेल मार्दवरूपी धर्म पर फैल जाती है।

मार्दव धर्म जिनेन्द्र देव की भक्ति को प्रकाशित करता है, मार्दव धर्म कुमति के प्रसार को रोक देता है, मार्दव धर्म से बहुत अधिक विनयगुण प्रवृत्त होता है और मार्दव धर्म से मनुष्यों का बैर दूर हो जाता है।

मार्दव से परिणाम निर्मल होते हैं, मार्दव से उभय लोक की सिद्धि होती है, मार्दव से दोनों प्रकार का तप सुशोभित होता है और मार्दव से मनुष्य तीनों जगत् को मोहित कर लेता है।

मार्दव धर्म से जिनशासन का ज्ञान होता है तथा अपने और पर के स्वरूप की भावना भायी जाती है। मार्दव सभी दोषों का निवारण करता है और यह मार्दव ही जीवों को जन्म समुद्र से पार कराने वाला है।

यह मार्दव परिणाम, सम्यग्दर्शन का अंग है ऐसा जानकर हे भव्य! तुम विचित्र और अमल इस मार्दव धर्म की सदा स्तुति करो।

मार्दवः स्यान्मृदोर्भावो, मानशत्रोर्विमर्दकः।
चतुर्धा विनयोपेतो, वर्जितः सोऽष्टभिर्मदैः।।1।।

इन्द्रवत् खग इन्द्राख्यो, रावणेन विनिर्जितः।
रावणोऽपि स्वयं नष्टः, किं मानेन प्रयोजनम्।।2।।

उच्चं नीचं धृतं सर्वं, पर्यायं भुवने मया।
इन्द्रसौख्यमवाप्तं हा! निगोदेष्वपि दुःखितः।।3।।

चक्रभृत् भरतेशोऽपि, वृषभाद्रिं व्यलोकयत्।
स्फेटयित्वाक्षरं तत्र, स्वप्रशस्तिं लिलेख सः।।4।।

स्वात्मगुणस्य सन्मानैः स्वात्मानंदामृतं स्वदे।
स्वाभिमाने पदे स्थित्वा ज्ञानादिगुणमाप्नुयाम्।।5।।

''जात्यादिमहावेशादभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणम्[1]।''

जाति आदि मदों के आवेशवश होने वाले अभिमान का अभाव करना मार्दव है। मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना।

''मृदु का भाव मार्दव है, यह मार्दव मानशत्रु का मर्दन करने वाला है, यह आठ प्रकार के मद से रहित है और चार प्रकार की विनय से संयुक्त है। देखो इन्द्र नाम का विद्याधर इन्द्र के समान वैभवशाली था फिर भी रावण के द्वारा पराजय को प्राप्त हुआ है और वह रावण भी एक दिन मान के वश में नष्ट हो गया, अतः मान से क्या लाभ है ? मैंने इस संसार में ऊँच और नीच सभी पर्यायें धारण की हैं। अहो! मैंने इन्द्रों के सुख भी प्राप्त किये हैं और हा! खेद है कि निगोद पर्याय में दुःख भी प्राप्त किये गए हैं। देखो! चक्ररत्न को धारण करने वाला भरत चक्रवर्ती भी वृषभाचल पर्वत को देखता है पुनः उस पर से अक्षर को मिटाकर वह अपनी प्रशस्ति को लिखता है। अपने आत्म गुणों के सन्मान से अपने आत्मा के आनन्दरूपी अमृत को चखना चाहता हूँ। अपने स्वाभिमानमय पद में स्थित होकर मैं ज्ञानादिगुण को प्राप्त कर लेऊँ मेरी यही भावना है।।1 से 5।। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी भावना सदा भाते रहना चाहिये।

जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप, तप, विद्या और धन इन आठ मदों के

1. सर्वार्थसिद्धि अ. 9, सूत्र 6।

आश्रय से जो मान करते हैं वे तत्काल नीच गति के कारणभूत कर्मों का संचय करते हैं। मानी पुरुष मान के वश होकर पूज्य-पूजा का व्यतिक्रम कर देते हैं। इस संसार में मान किसका करना ? जहाँ पर प्राणी राजा होकर विष्ठा में कीड़ा हो गया।

विनय के चार भेद हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार।

ज्ञान की विनय के अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि, उभयशुद्धि, कालशुद्धि, विनयशुद्धि, उपधान, बहुमान और अनिन्हव ये आठ भेद हैं। इनका पालन करना और ज्ञानी की विनय करना। दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करना और दर्शनधारी की विनय करना। चारित्र के अतीचारों को दूरकर चारित्रधारी की विनय करना तथा गुरु की प्रत्यक्ष और परोक्ष में मन-वचन-काय से विनय करना। गुरुओं की वैयावृत्ति करना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना आदि। इंद्र का रावण से पराजय होना साक्षात् गुरु के अपमान का फल है।

इंद्र विद्याधर

विद्याधर की श्रेणी पर रथनूपुर नगर में राजा सहस्रार की रानी मानस सुन्दरी के गर्भ में पुण्यशाली बालक के आने से उसे इंद्र की संपदा भोगने की इच्छा हुई। राजा ने रानी का दोहला पूर्ण किया, पुत्र का जन्म होने पर उसका नाम 'इंद्र' रखा। इंद्र ने तरुण होकर अपने वैभव को इंद्र सदृश बनाया। उसके 48 हजार रानियाँ थीं। 26 हजार नृत्यकार थे, ऐरावत नाम का हाथी था, पट्रानी का नाम शची, चारों दिशाओं में चार लोकपाल, सुधर्मा सभा, वज्र नाम का शस्त्र, उर्वशी, मेनका आदि अप्सरायें और बृहस्पति मंत्री आदि वैभव थे।

रावण जब दिग्विजय के लिये निकला तब उसने इंद्र विद्याधर को जीतकर बाँध लिया। उधर इंद्रजीत ने इंद्र के पुत्र जयंत को बाँध लिया और लंका नगरी वापस आ गए। दुःख से व्याकुल हो इंद्र के सामंत सहस्रार पिता को आगे कर रावण के पास पहुँचे। सहस्रार ने रावण से अपने पुत्र को छोड़ने के लिए कहा। उस समय रावण ने हँसकर कहा कि मैं इस शर्त पर इंद्र को छोड़ सकता हूँ कि आज से लेकर तुम सब मेरे नगर के भीतर और बाहर बुहारी देने का कार्य करो। इंद्र घड़ा लेकर पृथ्वी को सिंचित करे और उसकी रानियाँ रांगोली बनावें। पुनः विनयावनत होकर उसने सहस्रार को पितृ तुल्य कहकर आदर देकर इंद्र को बंधन मुक्त कर दिया और कहा कि आज से यह मेरा चौथा भाई है इत्यादि।

इंद्र अपने विजयार्ध पर्वत पर आ गया किन्तु इस पराजय से वह अतीव दुःखी रहने लगा। विरक्त होकर निर्वाणसंगम मुनिराज के पास प्रश्न किया। भगवन् ! मैं किस पाप से मृत्यु से भी अधिक दुखःदायी इस पराजय को प्राप्त हुआ हूँ। मुनि ने कहा इंद्र! अरिंजयपुर में अहिल्या के स्वयंवर में तुम भी गए थे किन्तु उस सुन्दरी ने आनंदमाल के गले में वरमाला डाली। इससे तुम्हें आनन्दमाल से ईर्ष्या हो गई। किसी समय आनन्दमाल विरक्त हो मुनि होकर रथावर्त पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे। अकस्मात् आकाश मार्ग से जाते हुए तूने उन्हें देखकर क्रोधवश उनकी हँसी की और कहा अरे! काम भोग का प्रेमी अहिल्यापति तू इस समय यहाँ क्यों बैठा है ? पुनः उन्हें रस्सियों से कसकर बाँध दिया। फिर भी वे मुनि निर्विकार हुए तत्वचिंतन में लीन थे। उन्हीं के समीप उनके भाई कल्याणमाल मुनि ऋद्धिधारी थे। वे प्रतिमायोग संकुचित कर दुःखी होकर बोले—'तूने अकारण मुनिराज का तिरस्कार किया है अतः तू भी बहुत भारी तिरस्कार को प्राप्त होगा' उन मुनि का क्रोध बढ़ रहा था कि तेरी पत्नी सर्वश्री ने उनसे क्षमा याचना करते हुए उन्हें शांत किया।

"जो मनुष्य मन से भी साधुजनों का पराभव करता है वह उससे उभय लोक में पराभव को प्राप्त होता है। जो दुष्टचित्त मनुष्य निर्ग्रंथ मुनि को गाली देता है अथवा मारता है उस पापी मनुष्य के विषय में क्या कहा जाये[1] ?"

हे इंद्र ! इस भव के ही उस पाप के फल से तुम्हें यह पराजय का दुःख सहना पड़ा है। पुनः इंद्र ने उन्हीं गुरु के पास दीक्षा लेकर अंत में निर्वाणधाम को प्राप्तकर लिया। जिस रावण ने इंद्र को पराजित किया था उसी ने मान कषाय में आकर सीता के निमित्त रामचंद्र से युद्ध करके नरक गति प्राप्त कर ली।

रूप का मद

सिंधुमती रानी ने रूप के गर्व में उन्मत्त होकर मुनि को कड़वी तूंबड़ी का आहार दे दिया। फलस्वरूप नरक, तिर्यंचों के दुःख भोगकर कालांतर में गुरु के उपदेश से रोहिणी व्रत करके रोहिणी नाम की रानी होकर सुख प्राप्त किया। ऐसे ही एक मद के निमित्त से जीवों ने दुःख उठाए हैं।

जब राजा भी मरकर कीड़े जैसी तुच्छ पर्याय में जन्म ले सकता है तब किसका मद करना ?

---

1. पद्मपुराण पर्व 13, पृ. 3।

मिथिला नगर के राजा का नाम "शुभ" था, उनकी रानी का नाम मनोरमा और पुत्र का नाम देवरति था। राजा को आर्तध्यान के निमित्त से किसी समय तिर्यंचायु का बंध हो गया। एक समय उनके शहर में देवगुरु नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज अपने चतुर्विध संघ सहित वहाँ आये। राजा ने गुरुदेव का दर्शन किया अनंतर प्रश्न किया।

"भगवन्! इस राजपद के बाद मरणकर मेरी कौन सी गति होगी"?

मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से जानकर कहा—

"राजन् ! आज से सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु हो जावेगी और तुम मरकर अपने विष्ठागृह में पंचरंगी कीड़ा हो जावोगे।"

राजा को अपनी इस भावी गति को सुनकर बहुत ही आश्चर्य हुआ और साथ ही महान् दुःख हुआ। उसके मन में कुछ शंकायें उठने लगीं—

"क्या यह सच है ? मुनिराज के वचन तो झूठे नहीं होते हैं ऐसा सुनने में आता है सो क्या ऐसा भी हो जायेगा! मैं मरकर मेरे ही विष्ठागृह में कीड़ा हो जाऊँगा।"

मुनिराज ने सही प्रतीति के लिए कहा—

"राजन् इसी बीच शहर में प्रवेश करते समय तुम्हारे मुँह में विष्ठा प्रविष्ट हो जाएगी। तुम्हारा छत्र भंग हो जावेगा और आज से सातवें दिन बिजली के गिरने से तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी।"

राजा चिंतित और दुःखी वापस घर आ गया। एक दिन उद्यान से शहर में प्रवेश करते समय रथ के घोड़ों के पाँव की ठोकर से विष्ठा उछल कर राजा के मुँह में आ पड़ी। यहाँ से वह थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि अकस्मात् जोर की आँधी आने से उनका छत्र टूट कर गिर गया। इस घटना से राजा को मुनिराज का कथन सत्य प्रतीत होने लगा। तब उसने अपने पुत्र देवरति को बुलाकर मुनि द्वारा कथित सब बातें सुना दीं और बोले—

"हे पुत्र! यदि मैं मरकर विष्ठागृह में कीड़ा हो जाऊँ तो तुम शीघ्र ही आकर मुझे मार देना कि जिससे मैं इस निंद्य योनि में अधिक दिन न रह सकूँ।"

पिता की बात पुत्र ने स्वीकार कर ली। फिर भी राजा के मन में संदेह झूलता ही रहा, तब उसने अपनी रक्षा के उपायस्वरूप एक लोहे का बड़ा संदूक बनवाया। उसमें आप बैठ गए और मंत्रियों से कहा कि—

"तुम लोग इस संदूक को बंद कर गंगा नदी के गहरे जल में इसे रख दो

कि जिससे बिजली के गिरने से इस पर कुछ भी असर नहीं होगा और मैं बच जाऊँगा। फिर अमुक दिन के बाद तुम लोग संदूक को वापस लाकर हमें खोल देना।"

मंत्रियों ने वैसा ही किया, राजा का संदूक गंगा नदी में रख दिया। किन्तु होनहार टलती नहीं है और मुनियों के वचन झूठे नहीं होते हैं। ठीक मुनि के कहे अनुसार उसी दिन बादल घिर आए, बिजली चमकने लगी। इसी समय बड़े मच्छ ने संदूक को एक ऐसा उथेला दिया कि संदूक जल के बाहर दो हाथ ऊपर तक उछल आया। संदूक का बाहर होना और आकाश से बिजली का गिरना एक साथ हो गया। बिजली ठीक उसी संदूक पर पड़ी कि जिसने लोहे को भेद कर राजा को जला दिया। वह शुभ राजा उसी क्षण मरकर तिर्यंच योनि में अपने ही विष्ठागृह में एक बड़ा सा पंचरंगी कीड़ा हो गया। तूफान और बिजली के बाद राजा के पुत्र देवरति ने पहले तो गंगा के किनारे से संदूक मंगाया, पिता को मरा हुआ पाकर बहुत ही दुःखी हुये, अन्त्येष्टि क्रिया करके विष्ठागृह के निकट गये और पंचरंगी कीड़ा देखकर उसे मारने को तलवार उठाई किन्तु वह कीड़ा उसी गूथ में छिप गया। बार-बार वह कीड़ा बाहर आता था और देवरति की तलवार उठते ही अंदर घुस जाता था। अंत में देवरति वापस चला गया। परन्तु इस घटना से उसे अत्यन्त दुःख और आश्चर्य हो रहा था।

सो उसने महामुनि के दर्शन कर उनसे सारी घटना सुना दी। मुनिराज ने देवरति को समझाया और कहा—

"हे वत्स! जीव जिस गति में जाता है वहीं आसक्त हो जाता है पुनः मरना नहीं चाहता है। भले ही वह कितना ही निकृष्ट योनि में क्यों न हो। अतः तुम्हारे पिता का जीव भी अब तिर्यंच योनि से मरना नहीं चाह रहा है अब वह उसी में अपने को सुखी मानेगा। संसार में प्रत्येक जीव अनादिकाल से इसी तरह नाना योनियों में जन्म लेता रहता है कोई ऐसी निकृष्ट योनि नहीं है कि जिसमें इस जीव ने जन्म न लिया हो और उत्कृष्ट योनियों में भी राजा, महाराजा तो क्या नव ग्रैवेयक तक के अहमिन्द्र पद को भी प्राप्त कर लिया है किन्तु पुनः मिथ्यात्व के निमित्त पंच परावर्तन रूप संसार में भटकता ही रहा है अतः किस चीज का गर्व करना। यह मान कषाय ही जीवों को नीच योनियों में ले जाने वाली है। इसीलिए तो तुम पूजा में पढ़ते हो कि "भूप कीड़ों में गया।"

अतः जाति, कुल आदि के घमंड को छोड़कर मार्दव धर्म धारण करना

चाहिये। मार्दव धर्म के प्रसाद से उच्च गोत्र का आस्रव होता है। रामचन्द्र ने अपने कुल का गर्व नहीं किया किन्तु गौरव रखा अतः आज भी कहते हैं कि—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जायें पर वचन न जाई।।

हम मनु की संतान हैं 'मनोरपत्यं मानवः'। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम मानवता को अपनावें। जो सदैव अपने कुल, जाति और धर्म का गौरव रखते हुए गर्व का त्याग करते हैं वे ही अपने स्वाभिमान की रक्षा करके इसलोक में सर्वमान्य होते हैं तथा परलोक में उच्च कुल में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि—

'जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।' उच्च जाति, गोत्र और क्रिया आदि शुक्लध्यान के हेतु माने गए हैं। इसलिए उच्च वर्ण आदि को मोक्ष के लिए कारण सामग्री प्राप्त करने हेतु मान कषाय को छोड़कर विनय का आश्रय लेकर मार्दव धर्म को हृदय में स्थान देना चाहिए।

जाप्य—**ॐ ह्रीं अर्हं उत्तममार्दवधर्माङ्गाय नमः।**

1. पद्मपुराण, पर्व 31।

उत्तम मार्दव

मृदुता का भाव कहा मार्दव, यह मान शत्रु मर्दनकारी।
यह दर्शन ज्ञान चरित्र तथा, उपचार विनय से सुखकारी।।
मद आठ जाति, कुल आदि हैं, क्या उनसे सुखी हुआ कोई।
रावण का मान मिला रज में, यमनृप ने सब विद्या खोई।।1।।

था इन्द्र नाम का विद्याधर, वह इन्द्र सदृश वैभवशाली।
रावण ने उसका मान हरा, अपमान हृदय को दुःखकारी।।
जब चक्री गर्व सहित जाकर, वृषभाचल पूर्ण लिखा लखते।
हो मान शून्य इक नाम मिटा, निज नाम प्रशस्ति को लिखते।।2।।

बहु इन्द्र सदृश भी सुख भोगे, औ बार अनन्त निगोद गया।
बहु ऊँच नीच पर्याय धरी, नहिं किंचित् भी तब मान रहा।।
यह मान स्वयं निज आत्मा का, अपमान सदा करवाता है।
मार्दव गुण अपनी आत्मा को, सन्मान सदा दिलवाता है।।3।।

व्यवहार विनय सब सिद्ध करे, इसको सब शिव द्वार कहें।
गुणमणि साधुजन का नितप्रति, बहु विनय भक्ति सत्कार रहे।।
अपनी आत्मा है अनन्त गुणी, दुर्गति से उसे बचाऊँ मैं।
निज स्वाभिमान रक्षित करके, अपने को अपना पाऊँ मैं।।4।।

निज दर्शन ज्ञान चरित गुण का, सन्मान करूँ सब मान हरूँ।
निज आत्म सदृश सबको लखकर, नहिं किस ही का अपमान करूँ।।
निज आत्मा के मार्दव गुण को, निज में परिणत कर सौख्य भरूँ।
निज स्वाभिमानमय परमामृत, पीकर निज को झट प्राप्त करूँ।।5।।

उत्तम आर्जव धर्म

धम्महु वर-लक्खणु अज्जउ थिर-मणु दुरिय-विहंडणु सुह-जणणु।
तं इत्थ जि किज्जइ तं पालिज्जइ, तं णि सुणिज्जइ खय-जणणु।।
जारिसु णिजय-चित्ति चिंतिज्जइ, तारिसु अण्णहं पुजु भासिज्जइ।
किज्जइ पुणु तारिसु सुह-संचणु, तं अज्जउ गुण मुणहु अवंचणु।।
माया-सल्लु मणहु णिस्सारहु, अज्ज धम्मु पवित्तु वियारहु।
वउ तउ मायावियहु णिरत्थउ, अज्जउ सिव-पुर-पंथहु सत्थउ।।
जत्थ कुडिल परिणामु चइज्जइ, तहिं अज्जउ धम्मु जि सपज्जइ।
दंसण-णाण सरूव अखंडउ, परम-अतिंदिय-सुक्ख-करंडउ।।
अप्पिं अप्पउ भवहु तरंडउ, एरिसु चेयण-भाव पयंडउ।
सो पुणु अज्जउ धम्मे लब्भई, अज्जवेण वइरिय-मणु खुब्भइ।।

—घत्ता—

अज्जण परमप्पण गयसंकप्पउ चिम्मितु जि, सामउ अभउ।
तं णिरू झाइज्जइ संसउ हिज्जइ पाविज्जइजिहिं अचल-पउ।।

अर्थ—आर्जव धर्म का उत्तम लक्षण है, वह मन को स्थिर करने वाला है, पाप को नष्ट करने वाला है और सुख का उत्पादक है। इसलिए इस भव में इस आर्जव धर्म को आचरण में लावो, उसी का पालन करो और उसी का श्रवण करो, क्योंकि वह भव का क्षय करने वाला है।

जैसा अपने मन में विचार किया जाये, वैसा ही दूसरों से कहा जाये और वैसा ही कार्य किया जाये। इस प्रकार से मन-वचन-काय की सरल प्रवृत्ति का नाम ही आर्जव है। यह अवंचक आर्जव गुण सुख का संचय कराने वाला है ऐसा तुम समझो।

मन से माया शल्य को निकाल दो और पवित्र आर्जव धर्म का विचार करो। क्योंकि मायावी पुरुष के व्रत और तप सब निरर्थक हैं। यह आर्जव भाव ही मोक्षपुरी का सीधा उत्तम मार्ग है।

जहाँ पर कुटिल परिणाम का त्याग कर दिया जाता है वहीं पर आर्जव धर्म प्रगट होता है। यह अखण्ड दर्शन और ज्ञानस्वरूप है तथा परम अतींद्रिय सुख का पिटारा है।

स्वयं आत्मा को भवसमुद्र से पार करने वाला ऐसा जो प्रचन्ड चैतन्य भाव है वह पुनः आर्जव धर्म के होने पर ही प्राप्त होता है। इस आर्जव—सरल भाव

से बैरियों का मन भी क्षुब्ध हो जाता है।

आर्जव धर्म परमात्म-स्वरूप है, संकल्पों से रहित है, चिन्मय आत्मा का मित्र है, शाश्वत है और अभयरूप है। जो निरन्तर उसका ध्यान करता है, वह संशय का त्याग कर देता है और पुनः अचल पद को प्राप्त कर लेता है।

आर्जवः स्यादृजोर्भावः त्रियोगं सरलं कुरु।
तिर्यग्योनिर्भवेल्लोके मायययानंतकष्टदा।।1।।

छद्मतः सगरो राजाऽवमेने मधुपिंगलः।
सोऽपि कालासुरो भूत्वा हिंसायज्ञमकरायत्।।2।।

साधुर्मृदुमतिः छद्मभावात् हस्ती बभूव च।
धिक् धिक् मायामहोदेवीं यत्प्रसादाद् भुवि भ्रमेत्।।3।।

ऊर्ध्वगः ऋजुभावेन कौटिल्येन चतुर्गतिः।
यत्ते रोचेत तत्कुर्याः किमन्यैर्बहुजल्पनैः।।4।।

विश्वासं परतः त्यक्त्वा, स्थित्वा स्वस्मिन्, स्वयं स्वतः।
त्रियोगमचलं कृत्वा स्वकं रत्नत्रयं लभे।।5।।

'योगस्यावक्रता आर्जवम्'[1]। मन-वचन-काय की सरलता का नाम आर्जव है। ऋजु अर्थात् सरलता का भाव आर्जव है। अर्थात् मन-वचन-काय को कुटिल नहीं करना, इस मायाचारी से अनंतों कष्टों को देने वाली तिर्यंच योनि मिलती है। सगर राजा ने सुलसा के स्वयंवर में मायाचारी से मधुपिंगल का अपमान किया था पुनः वह मधुपिंगल मरकर 'काल' नाम का असुर देव हो गया और उसने द्वेष में आकर हिंसामयी यज्ञ को चला दिया। मृदुमति नाम के मुनि ने मायाचारी की, जिसके फलस्वरूप वह त्रिलोकमंडन हाथी हो गया। इसलिए इस माया नाम की महादेवी को धिक्कार हो! धिक्कार हो! कि जिसके प्रसाद से यह जीव संसार में परिभ्रमणकरता है। सरल भाव से ऊर्ध्वगति होती है। इसका अर्थ यह भी है कि ऋजुगति से जीव मोक्ष गमन करता है। और कुटिलता से चारों गतियों में अर्थात् वक्रगति में संसार में भ्रमण करता है। अतः बहुत अधिक कहने से क्या इसमें से तुझे जो रुचता है सो कर। पर वस्तु से विश्वास को त्याग कर मैं अपने में आप स्वयं स्थित होकर मन-वचन-काय को स्थित करके अपने रत्नत्रय को प्राप्त करूँगा।।1 से 5।। ऐसी भावना प्रतिदिन भाते रहना चाहिए।

---

1. सर्वार्थसिद्धि।

सूत्र में 'मायातैर्यग्योनस्य' माया से तिर्यंच योनि होती है तथा 'योगवक्रता-विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।' मन-वचन-काय की कुटिलता से अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

श्री शुभचंद्राचार्य कहते हैं—कि वीतराग सर्वज्ञ भगवान ने मुक्ति मार्ग को सरल कहा है, उसमें मायावी जनों के स्थिर रहने की योग्यता स्वप्न में भी नहीं है।

मायाचारी के निमित्त से राजा सगर को दुर्गति में जाना पड़ा है और उसी निमित्त से हिंसामयी यज्ञ की परम्परा चल पड़ी है।

इसी भरत क्षेत्र में 'चारणयुगल' नाम का नगर है। उसमें सुयोधन नाम का राजा राज्य करता था, उसकी 'अतिथि' नाम की पटरानी थी, इन दोनों के 'सुलसा' नाम की पुत्री हुई थी। उसके स्वयंवर के लिए विधिवत् सर्वत्र सूचना पहुँचने पर बहुत से राजागण 'चारणयुगल' नगर में आ गये।

अयोध्या का राजा सगर उस स्वयंवर में जाने को उत्सुक था कि उसने अपने तेल लगाने वाले के मुख से सुना कि सिर में एक सफेद केश आ गया है। राजाकुछ विरक्त हो गया। राजा सगर की मंदोदरी धाय ने उसका फल किसी उत्तम वस्तु वा लाभ सूचक बतला दिया और मंत्री विश्वभू ने आकर राजा से कहा कि महाराज ! हम ऐसा ही प्रयत्न करेंगे कि वह 'सुलसा' तुम्हें ही वरण करे। सगर की मंदोदरी धाय ने सुलसा के पास आकर राजा सगर के अनेकों गुणों का वर्णन करके 'सुलसा' को राजा सगर में आसक्त कर लिया। इधर रानी 'अतिथि' को जब यह बात मालूम हुई तब उसने राजा सगर की निन्दा करके अपने भाई के पुत्र 'मधुपिंगल' को वरण करने के लिये सुलसा को समझाया और मंदोदरी को सुलसा के पास आना-जाना बंद कर दिया। मंदोदरी ने यह बात राजा सगर को कही और राज सगर ने अपने 'विश्वभू' मंत्री को बुलाकर कार्य सिद्धि के लिए आदेश दिया।

बुद्धिमान् मन्त्री ने राजा की बात स्वीकार कर कूटनीति से 'स्वयंवर विधान' नामक एक ग्रन्थ बनवाया और उसमें वर के अच्छे-बुरे लक्षण लिख दिये और उस ग्रन्थ को संदूकची में बंद करके गुप्त रूप से उसी नगर के बगीचे में गड़वा दी। किसी समय वह संदूकची निकाली गई और यह 'प्राचीन शास्त्र' है ऐसा समझकर वह पुस्तक राजकुमारों के समूह में बंचवाई गई।

उसमें लिखा था कि कन्या और वर के समुदाय में जिसकी आँख सफेद और पीली हो, माला के द्वारा उसका सत्कार नहीं करना चाहिए अन्यथा कन्या की मृत्यु

1. ज्ञानार्णव।

हो जाती है या वह मर जाता है इत्यादि। ये बातें मधुपिंगल में मौजूद थीं अतः वह यह सब सुन लज्जावश वहाँ से बाहर चला गया और हरिषेण गुरु के पास जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। राजा सगर में आसक्त सुलसा ने स्वयंवर में उसे ही वरण कर लिया।

मधुपिंगल मुनिराज किसी दिन आहार के लिए किसी नगर में गये थे। वहाँ कोई निमित्तज्ञानी उनके लक्षण देखकर कहने लगा कि 'इस युवा के चिन्ह तो पृथ्वी का राज्य करने के योग्य हैं परन्तु यह भिक्षा भोजन करने वाला है इससे ऐसा जान पड़ता है कि इन सामुद्रिक शास्त्रों से कोई प्रयोजन नहीं है यह सब व्यर्थ है'। उसके साथ दूसरे निमित्तज्ञानी ने कहा कि 'यह तो राज्य लक्ष्मी का ही उपभोग करता किन्तु सगर के मंत्री ने झूठमूठ कृत्रिम शास्त्र दिखलाकर इसे दूषित ठहरा दिया इसलिए इसने लज्जावश दीक्षा ले ली है।' उस निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर मधुपिंगल मुनि क्रोधाग्नि से प्रज्ज्वलित हो गये। 'मैं इस तप के फल से अगले जन्म में राजा सगर के समस्त वंश को निर्मूल करूँगा' ऐसा उन बुद्धिहीन मधुपिंगल ने निदान कर दिया। अन्त में मरण करके वह असुरेन्द्र की महिष जाति की सेना की पहली कक्षा में चौंसठ हजार सुरों का नायक 'महाकाल' नाम का असुर हुआ, वहाँ पर कुअवधिज्ञान से पूर्वभव के सब वृत्तांत विदित कर वह देव क्रोध से भर गया। मंत्री और राजा सगर के ऊपर उसका बैर और दृढ़ हो गया, फिर भी वह उन्हें जान से नहीं मारना चाहता था किन्तु उसके बदले में वह उनसे कोई भयंकर पाप करवाना चाहता था। अपने अप्रिभाय को सफल करने के लिए वह उपाय और सहायकों की चिन्ता में यत्र-तत्र घूम रहा था, इधर उसके अभिप्राय को सिद्ध करने वाली दूसरी घटना हो गई।

इसी भरत क्षेत्र सम्बन्धी धवल देश में एक 'स्वस्तिकावती' नाम का नगर है। उसके राजा विश्वावसु की श्रीमती रानी से 'वसु' नाम का पुत्र हुआ था। उसी नगर में 'क्षीरकदंब' नाम का एक श्रेष्ठ अध्यापक ब्राह्मण था। उसके पास उसका पुत्र पर्वत, दूसरे देश से आया हुआ नारद और राजा का पुत्र वसु ये तीन छात्र पढ़ते थे। एक दिन ये तीनों छात्र कुशा आदि लाने के लिए गुरु के साथ वन में गये थे। वहाँ एक पर्वत की शिला पर 'श्रुतधर' नाम के गुरु विराजमान थे। अन्य तीन मुनि उन श्रुतधर मुनिराज से अष्टांग निमित्तज्ञान का अध्ययन पूर्ण होने पर तीनों मुनि गुरु की स्तुति कर विनय से बैठ गये और श्रुतधर मुनि ने उनकी परीक्षा के लिए प्रश्न किया कि 'जो ये तीन छात्र बैठे हैं इनमें किसका क्या नाम है ? क्या कुल है? क्या अभिप्राय है ? और अन्त में किसकी क्या गति होगी ?

यह सब आप लोग कहें। उनमें से एक मुनि ने कहा कि यह जो राजा का पुत्र वसु है वह तीव्र रागादि परिणामों से दूषित है, हिंसारूप धर्म का निश्चय करके नरक जावेगा। दूसरे मुनि ने कहा कि जो यह ब्राह्मण का लड़का पर्वत है वह निर्बुद्धि क्रूर है यह 'महाकाल' के उपदेश से अथर्ववेद नामक पाप प्रवर्तक शास्त्र का अध्ययन कर खोटे मार्ग का उपदेश देगा और हिंसा में धर्म बतलाकर हिंसा के पाप से नरक जावेगा। तीसरे मुनि ने कहा कि जो यह पीछे बैठा है इसका नाम नारद है, यह जाति का ब्राह्मण है, बुद्धिमान् है, धर्मध्यान का उपदेश देगा, आगे चलकर 'गिरितट' नामक नगर का राजा होगा और अंत में परिग्रह छोड़ कर तपस्वी होकर अन्तिम अनुत्तर विमान में उत्पन्न होगा। इस प्रकार से तीनों मुनियों के वचन सुनकर गुरुदेव अत्यधिक प्रसन्न हुए।

इधर एक वृक्ष के आश्रय में बैठे क्षीरकदंब उपाध्याय ने यह सब सुन लिया और बहुत ही दुखी हुआ। पुनः दीक्षित होकर तपश्चरण करने लगा। एक वर्ष बाद राजा विश्वावसु 'वसु' को राज्यपद देकर तपोवन को चले गए। इधर समस्त शास्त्रों का जानने वाला पर्वत भी पिता के स्थान पर बैठकर सब प्रकार की शिक्षाओं की व्याख्या में प्रेम करने लगा। उसी नगर में सूक्ष्म बुद्धि वाला नारद भी अनेक विद्वानों के साथ निवास करता था और शास्त्रों की व्याख्या द्वारा यश प्राप्त करता था।

किसी एक दिन शास्त्र की सभा 'अजैर्होतव्यं' इस वाक्य का अर्थ निरूपण करने में बड़ा भारी विवाद चल पड़ा। नारद कहता था कि जिस में अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई है ऐसा तीन वर्ष का पुराना जो 'अज' कहलाता है और उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्नि में आहुति देना यज्ञ कहलाता है। नारद का यह व्याख्यान गुरु परम्परा के अनुसार निर्दोष था। फिर भी पर्वत कहता था कि 'अज' शब्द एक पशु विशेष का वाचक है अतः उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्नि में होम करना यज्ञ कहलाता है। इन दोनों की बातें सुनकर उत्तम प्रकृति वाले पुरुष नारद की प्रशंसा करने लगे और कहने लगे कि यह पर्वत नारद से ईर्ष्या करके ही प्राणीवध को धर्म कह रहा है। सबने पर्वत का तिरस्कार किया। सबके द्वारा बाहर निकाला गया पर्वत मान भंग से वन में चला गया। वहाँ महाकाल नामक वह असुर ब्राह्मण के वेश में घूम रहा था। महाकाल ने पर्वत से पूछा कि तुम कहाँ से आए हो। पर्वत ने भी प्रारम्भ से लेकर सारा वृत्तांत इस ब्राह्मण वेषधारी असुर को सुना दिया। यह सनुकर महाकाल ने यह निर्णय कर

लिया कि यह हमारे शत्रु के वंश को निर्वंश करने में समर्थ है और उसने कहा कि देखो! तुम्हारे पिता ने और मैंने एक गुरु के पास विद्याध्ययन किया है अतः वे मेरे साधर्मी भाई हैं, तुम डरो मत मैं तुम्हारा सहायक हूँ। इस प्रकार उस महाकाल ने पर्वत की इष्ट सिद्धि के लिए 'अथर्ववेद' सम्बन्धी साठ हजार ऋचाएँ पृथक्-पृथक् बनाईं और पर्वत को उनका अध्ययन कराया और कहा कि पूर्वोक्त मंत्रों से यदि अग्नि में पशुओं की हिंसा की जावे तो इष्टफल प्राप्त होगा। तदनंतर उन दोनों ने विचार-विमर्श करके अयोध्या में जाकर यज्ञ द्वारा अपना प्रभाव फैलाना शुरु किया।

महाकाल ने अपने क्रूर असुरों को बुलाकर अयोध्या में तीव्र ज्वर आदि कराकर पीड़ा उत्पन्न करा दी और स्वयं पर्वत के साथ राजा सगर के पास जाकर बोला कि हे राजन् ! मैं आपके राज्य के इस घोर अमंगल को मंत्र सहित यज्ञ विधि द्वारा शीघ्र ही शांत कर दूँगा। विधाता ने पशुओं की सृष्टि यज्ञ के लिए ही की है। इत्यादि अनेक प्रकार के शब्दों से राजा को विश्वास दिलाकर पापी ने कहा कि तुम यज्ञ की सिद्धि के लिए हजार पशुओं का तथा यज्ञ के योग्य अन्य पदार्थों का संग्रह करो। राजा सगर ने भी सब वस्तुएँ उसके लिए मँगा दीं।

इधर पर्वत ने यज्ञ प्रारम्भ कर प्राणियों को मंत्रित करके यज्ञ में डालना शुरू किया, उधर महाकाल नामक असुर ने विक्रिया से प्राणियों को विमान में बिठा-बिठा कर शरीर सहित आकाश में जाते हुए दिखलाया और लोगों को विश्वास दिला दिया कि ये सब पशु स्वर्ग गए हैं और उसी समय उसने देश के सब अमंगल और उपसर्ग दूर कर दिए। यह देख बहुत से भोले प्राणी उसकी माया से मोहित हो गये और स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा से यज्ञ में मरने की इच्छा करने लगे। यज्ञ के समाप्त होने पर उस दुष्ट पर्वत ने विधिपूर्वक एक उत्तम जाति का घोड़ा तथा राजा की आज्ञा से उसकी सुलसा नाम की रानी को भी होम दिया। प्रिय स्त्री के वियोग से शोक से दग्ध हुआ राजा सगर अत्यधिक चिंतित होता हुआ, इसमें संशय करने लगा कि यह प्राणी हिंसा धर्म है या अधर्म ? राजा संशय करता हुआ मतिवर नामक मुनि के पास गया और नमस्कार करके उसने पूछा— हे स्वामिन्! मैंने जो कार्य प्रारम्भ किया है उसका फल पुण्यरूप है या पापरूप ? मुनिराज ने उसे अहिंसा धर्म का उपदेश दिया और कहा कि यह पाप कार्य सप्तम पृथ्वी को भेज देगा इत्यादि। मुनि के वचनों को सुनकर राजा सगर ने आकर ज्यों की त्यों पर्वत से कह दी। पर्वत ने कहा कि वह नंगा साधु कुछ नहीं

जानता है और महाकाल ने पुनः विमान में बैठे हुए सुलसा रानी को और सभी श्रोताओं को देव पर्याय प्राप्त किए हुए दिखाया। इस माया से वंचित होता हुआ वह राजा पुनः पाप में ही प्रवृत्त हो गया और मरकर सातवें नरक चला गया। अत्यन्त दुष्ट महाकाल असुर भी तीव्र क्रोध करता हुआ उसे और अधिक दण्ड देने के लिये नरक में गया। तीसरे नरक तक न पाकर तथा यह सातवें नरक गया है ऐसा समझकर वापस आ गया। तभी से यज्ञ में जीवों को होमा जाने लगा है।

गुणभद्र स्वामी कहते हैं—

भेयं मायामहागर्तात्। मिथ्याघन तमोमयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यंते क्रोधादि विषमाहयः।।

निविड़ मिथ्यात्वरूपी अंधकार से व्याप्त इस मायारूपी महा गड्ढे से हमेशा डरना चाहिये क्योंकि इसमें छिपे हुए क्रोध आदि विषम सर्प दिख नहीं सकते हैं।

गुणनिधि नामक मुनिराज दुर्गगिरि पर्वत पर चार माह योग में लीन हो गये। सुर-असुरों ने उनकी स्तुति की। वे चारण ऋद्धिधारी हैं अतः योग समाप्त होने पर वे आकाश मार्ग से चले गये। उसी समय मृदुमति मुनि आकर गाँव में आहार हेतु गये। सो नगरवासियों ने 'ये वे ही मुनि हैं' ऐसा जानकर उनकी विशेष भक्ति की तथा कहा भी कि 'आप वे ही महाराज हो जो पर्वत पर ध्यान कर रहे थे'। भोजन के स्वाद में आसक्त होकर मृदुमति ने यह नहीं कहा कि मैं वह नहीं हूँ उसने सोचा कि यदि मैं यह बता दूँ कि मैं वह नहीं हूँ तो लोग मेरी भक्ति कम करेंगे अतः उन्होंने मायाचारी से अपने को पुजवाया। अतः वे अंत में स्वर्ग में जाकर वहाँ के सुख को भोग कर पुनः इस माया के पाप से मरकर 'त्रिलोकमंडन' नाम के हाथी हो गये। यह माया हमेशा आत्म वंचना ही करती है। काष्ठांगार ने मायाचारी से विश्वासघात करके सत्यंधर महाराज को मार डाला। आखिर जीवंधर कुमार ने काष्ठांगार को मारकर अपना राज्य हस्तगत कर लिया।

दुर्योधन ने पांडवों के प्रति मायाचारी करके लाख के घर में उन्हें भेजा, पुनः लोभी ब्राह्मण को धन देकर उस मकान में आग लगवा दी। पांडव अपने पुण्य से महामंत्र के प्रभाव से बच निकले किन्तु दुर्योधन की निन्दा आज तक हो रही है और अभी भी वे नरक में दुःख उठा रहे हैं। अतः मायाचारी का त्याग करके सरल परिणामों द्वारा अपनी आत्मा की उन्नति और ऊर्ध्वगति करनी चाहिए।

जाप्य—**ॐ ह्रीं अर्हं उत्तमआर्जवधर्माङ्गाय नमः।**

1. ज्ञानार्णव।

उत्तम आर्जव

ऋजु भाव कहा आर्जव उत्तम, मन वच औ काय सरल रखना।
इन कुटिल किये माया होती, तिर्यंचगति के दुःख भरना।।
नृप सगर छद्म से ग्रन्थ रचा, मधुपिंगल का अपमान किया।
उसने भी कालासुर होकर, हिंसामय यज्ञ प्रधान किया।।1।।

मृदुमति मुनि ने ख्याति पूजा-हेतु माया को ग्रहण किया।
देखो हाथी का जन्म लिया, इस माया को धिक्कार दिया।।
यह कुटिल भाव गति कुटिल करे, औ अशुभ नाम का बंध करे।
ऋजु गती से मुक्ति गमन होता, ऋजु भावी सुख से प्राप्त करे।।2।।

जो मन में हो वह ही वच से, तन चेष्टा भी वैसी होवे।
दुर्गति स्त्री पशुयोनि छुटे, भव भव का भ्रमण तुरत खोवे।।
मैं अपने योग सरल करके, अपने में ही नितवास करूँ।
पर से विश्वास हटा करके, अपने में ही विश्वास करूँ।।3।।

माया कषाय से रहित स्वयं, आत्मा ऋजु गुण से मंडित है।
यह भाव विभाव कहा ऋषि ने, बहिरात्मा इसमें रंजित है।।
मैं अन्तर आत्मा निर्विकार, शुद्धात्मा स्वयं का ध्यान करूँ।
पर से अपने को पृथक् समझ, निज परमात्मा को प्राप्त करूँ।।4।।

अपने त्रय योग अचल करके, रत्नत्रय निज गुण प्राप्त करूँ।
योगों की चंचलता छूटे, अपना भव भ्रमण समाप्त करूँ।।
मन वच काया आत्मा को, ध्यानाचल से मैं पृथक् करूँ।
निजदर्शन ज्ञान वीर्य सुखमय, अनुपम निज पद के विभव भरूँ।।5।।

उत्तम सत्य धर्म

दय-धम्महु कारणु दोस-णिवारणु इह-भवि पर-भवि सुक्खयरू।
सच्चु जि वयणुल्लउ भुवणि अतुल्लउ बोलिज्जइ वीसासधरू।।
सच्चु जि सव्वहं धम्महं पहाणु, सच्चु जि महियलि गरुउ विहाणु।
सच्चु जि संसार-समुद्द-सेउ, सच्चु जि सव्वहं मण-सुक्ख-हेउ।।
सच्चेण जि सोहइ मणुव-जम्मु, सच्चेण पवत्तउ पुण्ण-कम्मु।
सच्चेण सयल गुण-गण महंति, सच्चेण तियस सेवा वहंति।।
सच्चेण अणुव्वय-महवयाइं, सच्चेण विणासइ आवयाइं।।
हिय-मिय भासिज्जइ णिच्च भास, ण वि भासिज्जइ पर-दुह-पयास।
पर-बाहा-यरू भासहु म भव्वु, सच्चु जितं छंडहु विगय-गव्वु।
सच्चु जि परमप्पउ अत्थि इक्कु, सो भावहु भव-तम-दलण-अक्कु।।
रूंधिज्जइ मुणिणा वयण-गुत्ति, जं खणि फिट्टइ संसार-अत्ति।

—घत्ता—

सच्चु जि धम्म-फलेण केवलणाणु लहेइ जणु।
तं पालहु भो भव्व भणहु म अलियउ इह वयणु।।

अर्थ—सत्य धर्म, दयाधर्म का कारण है, दोषों को दूर करने वाला है, इस लोक और परलोक में सुख को देने वाला है। लोक में सत्यवचन की किसी से तुलना नहीं की जा सकती, इसे विश्वास के साथ बोलना चाहिए।

सत्यधर्म सर्वधर्मों में प्रधान है, सत्य पृथ्वी तल पर सबसे श्रेष्ठ विधान है। सत्य, संसार समुद्र को पार करने के लिए पुल के समान है और यह सब जीवों के मन को सुख देने वाला है।

इस सत्य से ही मनुष्य जन्म शोभित होता है, सत्य से ही पुण्यकर्म बँधता है, सत्य से ही सम्पूर्ण गुणों का समूह महानता को प्राप्त हो जाता है और सत्य से ही देवगण सेवा करते हैं।

सत्य से अणुव्रत और महाव्रत होते हैं, सत्य से आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। नित्य ही हित-मित वचन बोलना चाहिए, पर को दुःखदायी ऐसे वचन कभी नहीं बोलना चाहिए।

हे भव्य! दूसरों को बाधा-पीड़ा करने वाले वचन कभी मत बोलो, यदि वह वचन सत्य भी हो तो भी गर्वरहित हो उसे छोड़ दो। क्योंकि सत्य ही एक मात्र

परमात्मा है, वह भवरूपी अंधकार को दलन करने के लिए सूर्य के समान है अतः उस सत्य की नित्य ही भावना करो।

मुनि वचनगुप्ति का निरोध करते हैं, वह क्षणमात्र में संसार के दुःखों का अंत कर देती है।

सत्य धर्म के फल से मनुष्य केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इसलिए हे भव्य! तुम सत्य धर्म का पालन करो और इस भव में झूठ वचन कभी मत बोलो।

सत् सम्यक् च प्रशस्तं स्यात् सत्यं पीयूषभृद् वचः।।
मिथ्यापलापकं वाक्यं धर्मशून्यं सदा त्यज।।1।।
गर्हितं निंदितं हिंसापैशून्याप्रियकर्कशं।।
आक्रोशक्रोधवैरादिसावद्योत्सूत्रकं त्यजेः।।2।।
मंत्री श्रीवंदकोऽसत्यैर्वाक्यै र्दृग्भ्यां च्युतः क्षणात्।
वसुराजाप्यसत्पक्षात् सप्तमं नरकं गतः।।3।।
सत्यं प्रियं हितं वाक्यं सुंदरं सर्वं सिद्धिदं।।
विश्वासघातवल्लोके महापापं न वर्तते।।4।।
स्वस्मात् भिन्नं परद्रव्यं मा कुर्वात्मन् ! स्वकीयकम्।
सम्यक् स्वस्मिन् स्वकं ध्यात्वा, स्वात्माल्हादं सुखं भज।।5।।

'सत्स प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमित्युच्यते।' सत् अर्थात् प्रशस्तजनों में अच्छे वचन बोलना सत्य है।

सत् अर्थात् समीचीन और प्रशस्त वचन सत्य कहलाते हैं। ये वचन अमृत से भरे हुये हैं। मिथ्या अपलाप करने वाले और धर्मशून्य वचन सदा छोड़ो। गर्हित, निंदित, हिंसा, चुगली, अप्रिय, कठोर, गाली-गलौज, क्रोध, बैर आदि के वचन, सावद्य के वचन और आगम विरुद्ध वचन इन सबको छोड़ो। देखो! श्रीवंदक नाम बौद्ध मंत्री असत्य वचनों के द्वारा क्षणमात्र में आँखों से अंधा हो गया, वसु राजा भी असत्य के पक्ष से सातवें नरक में चला गया। सत्य, प्रिय, हितकर और सुन्दर वचन सर्वसिद्धि को देने वाले हैं। इस लोक में विश्वासघात के समान महापाप कोई नहीं है। हे आत्मन्! अपने से भिन्न परद्रव्य को अपना मत बनाओ और अपने में अपने को अच्छी तरह से ध्याकर अपनी आत्मा के आह्लादमय सुख को प्राप्त करो।।1 से 5।। ऐसी भावना सतत भाते रहना चाहिये।

असत्य के चार भेद हैं—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो वस्तु सत्रूप है उसका निषेध करना प्रथम असत्य है। जैसे सुमेरु आदि हैं उनको न मानना।

पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु अविद्यमान है, उसको विद्यमान कहना दूसरा असत्य हैं, जैसे यहाँ घड़ा नहीं है कह दो 'यहाँ घड़ा है'।

अपने स्वरूप से विद्यमान भी पदार्थ अन्य स्वरूप से कहना वह तीसरा असत्य है। जैसे बैल को घोड़ा कहना।

चतुर्थ असत्य के गर्हित, सावद्य और अप्रिय ये तीन भेद हैं।

पैशून्य, चुगली युक्त कठोर, असमंजस प्रलापपूर्ण और शास्त्र विरुद्ध वचन है। इन सबको गर्हित कहते हैं।

छेदने, भेदने, मारने, शोषणे अथवा व्यापार चोरी आदि के वचन सावद्य-पापयुक्त वचन हैं, क्योंकि ये प्राणी हिंसा आदि पाप में प्रवृत्ति कराते हैं।

दूसरे को अप्रीति करने वाले, भय करने वाले, खेद करने वाले, बैर, शोक, कलह करने वाले तथा जो और भी संताप को करने वाले हों वे अब अप्रिय वचन हैं।[1]

श्रीवंदक की कथा

कनकपुर के राजा धनदत्त का श्रीवंदक मंत्री बौद्ध था। किसी दिन राजमहल की छत पर राजा और मंत्री बैठे थे, आकाश मार्ग से दो चारण मुनि जाते हुये दिखे। राजा ने विनय से उनका आह्वान किया जिससे वे उनकी छत पर उतरे। राजा ने उन्हें उच्च आसन पर विराजमान करके नमस्कार आदि करके उपदेश के लिये प्रार्थना की। उपदेश के बाद प्रभावित होकर श्रीवंदक ने सम्यक्त्व के साथ श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये। दूसरे दिन श्रीवंदक अपने बौद्ध गुरु की वंदना करने नहीं गया तब गुरु ने उसे बुलाया। उसने वहाँ जाकर नमस्कार न करके अपने व्रत ग्रहण का सर्व समाचार सुना दिया। बौद्ध गुरु ने पुनः उसे खूब समझा कर वह धर्म छुड़ा दिया और बोला कि ये लोग इंद्रजालिया हैं, कहीं कोई साधु आकाश में चल सकते हैं ?

दूसरे दिन राजसभा में राजा ने आकाशगामी मुनियों की सारी कथा सुनाई और श्रीवंदक से कहा कि आपने भी जो कल आँखों से दिगंबर मुनियों का प्रभाव देखा है सो कहिये। श्रीवंदक ने असत्य बोल दिया और कहा मैंने कुछ भी नहीं देखा है। उसी समय उसकी दोनों आँखें मुनि निंदा के पाप से फूट गईं। उस समय सभी ने मंत्री के असत्य भाषण की निन्दा करके जैनधर्म की खूब प्रशंसा की।

1. पुरुषार्थसिद्धि।

ऐसे ही वसुराजा द्वारा पर्वत का पक्ष रखते हुए, 'अजैर्यष्टव्यं' में यही सत्य है ऐसा असत्य का पक्ष लेने से बकरों से होम करने की निंद्य प्रथा पड़ गई है।

राजा वसु की कथा

स्वस्तिकावती नगरी के राजा विश्वावसु के एक पुत्र था उसका नाम वसु था। वहीं क्षीरकदंब उपाध्याय रहते थे। वे चरित्रवान और सरल स्वभावी थे, जिनदेव के परमभक्त थे, शांतिविधान, हवन अनुष्ठान आदि के द्वारा गृहस्थों के लिए शांति सुख हेतु अनुष्ठान कराते रहते थे। उनकी स्त्री का नाम स्वस्तिमती था। उनके एक पुत्र था उसका नाम पर्वत था। पिता उपाध्याय जितने सरल और बुद्धिमान थे यह पुत्र उतना ही कुटिल और मूर्ख था। जैन धर्म का अनुयायी एक नारद नाम का बालक था जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि था। राजपुत्र वसु, नारद और गुरुपुत्र पर्वत तीनों ही उपाध्याय क्षीरकदंब के पास पढ़ते थे।

एक दिन की बात है कि वसु से कोई ऐसा अपराध बन गया, जिससे उपाध्याय ने उसे बहुत मारा। उस समय स्वस्तिमती ने बीच में पड़कर उसे बचा लिया। वसु ने समय पाकर अपनी गुरुमाता से कहा—मातः ! तुमने मुझे बचाया है इससे मैं बहुत ही उपकृत हुआ हूँ। कहो तुम्हें क्या चाहिए सो मैं देने को तैयार हूँ। स्वस्तिमती ने कहा—पुत्र! इस समय तो मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है, पर जब होगी तब माँगूंगी। तू मेरे इस वर को अभी अपने पास रख।

एक दिन उपाध्याय क्षीरकदंब अपने तीनों शिष्यों को वन के एक पवित्र प्रदेश में विद्या अध्ययन करा रहे थें वहीं निकट में दो महामुनि स्वाध्याय कर रहे थे। तभी शिष्य ने दिव्यज्ञानी महामुनि-गुरु से कहा प्रभो! देखो, यह उपाध्याय अपने शिष्यों को कितना अच्छा पढ़ा रहा है। तभी गुरु ने कहा—वत्स! इनमें से उपाध्याय और उनका एक शिष्य ये दो तो स्वर्ग जायेंगे और राजपुत्र व गुरुपुत्र दोनों नरक जायेंगे। दिव्यज्ञानी मुनि के वचन उपाध्याय क्षीरकदंब ने सुन लिये। अपने शिष्यों को बिना कुछ बताये ही वे उन्हें घर भेजकर आप मुनि के पास दीक्षित हो गये।

कालांतर में राजकुमार वसु अपने पिता के दीक्षित हो जाने पर राजा बना। वह भी न्यायपूर्वक राज्य संचालन करता था। उसने अपने सिंहासन के नीचे के पाये स्फटिक मणि के बनवा रखे थे। जिससे देखने वाले सभी लोग यही समझते थे कि राजा का सिंहासन अधर है। उसके पुण्य से जनता में भी यही प्रसिद्धि

हो गई थी कि राजा बहुत ही सत्यवादी है इसलिए सत्य के बल से राजा का सिंहासन आकाश में अधर टिका हुआ है।

इधर क्षीरकदंब के दीक्षित हो जाने पर पर्वत को पिता का उपाध्याय पद मिल गया और वह बालकों को धर्माध्ययन कराने लगा। नारद भी गुरु से ज्ञान प्राप्त कर उनकी दीक्षा के बाद अन्यत्र चले गऐ थे। एक समय वह नारद अपने सहपाठी गुरुपुत्र पर्वत से मिलने आ गये। उस समय पर्वत अपने शिष्यों को पढ़ा रहा था। एक सूत्र वाक्य का अर्थ उसने समझाया "अजैर्यष्टव्यम्" इसका अर्थ है अज अर्थात् बकरों से हवन करना चाहिए। उसमें बाधा देकर नारद ने कहा—नहीं, इस श्रुतिवाक्य का ऐसा अर्थ नहीं है। गुरुजी ने जो हम और आपको इसका अर्थ ऐसा बतलाया था कि "अजैस्त्रिवार्षिकैर्धान्यैर्यष्टव्यम्" अज अर्थात् तीन वर्ष पुराने धान्य से हवन करना चाहिए। इस पर पापी पर्वत ने दुराग्रहवश हो कहा—नहीं, तुम्हारा अर्थ गलत है, असल में "अज" का अर्थ बकरा ही है। यह विवाद अधिक बढ़ गया तब कुछ समाज के प्रतिष्ठित जनों ने राजा वसु की सभा में इसका निर्णय रखा।

पर्वत ने घर आकर माँ से सारा हाल कह सुनाया। माता ने पर्वत को बहुत ही फटकारा और कहा—पापी! तूने इस श्रुति का उल्टा अर्थ कर दिया है। मुझे भी मालूम है कि तेरे पिता पूर्ण अहिंसा धर्मी थे और वे इसका अर्थ न उगने योग्य पुराने धान ही करते थे। फिर भी पर्वत अपने दुराग्रह से नहीं हटा। तब माता स्वस्तिमती भी पुत्र की रक्षा के मोह में आकर राजा वसु के पास पहुँची और बोली—पुत्र ! तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वर तुम्हारे पास धरोहर में है सो आज मैं उसको चाहती हूँ। राजा वसु ने कहा—हाँ, याद है माता, तुम जो चाहो सो माँग लो। तब स्वस्तिमती ने कहा—पर्वत और नारद का किसी सूत्रार्थ पर झगड़ा हो गया है उसके निर्णय के लिए आपको चुना गया है सो आप पर्वत के पक्ष का ही समर्थन कीजिए। राजा ने "तथास्तु" कहकर उसे वर दे दिया।

अगले दिन राजसभा में पर्वत-नारद के विवाद का निर्णय देखने के लिए बहुत से लोग एकत्रित हो गये थे। राजा वसु भी अपने रत्न सिंहासन पर आरूढ़ थे। इतने में पर्वत और नारद अपना न्याय कराने के लिए आये। दोनों ने 'अजैर्यष्टव्यम्' का अपना-अपना अर्थ सुना दिया और कहा कि आप भी हम दोनों के सहापाठी हैं, गुरु जी ने इसका क्या अर्थ किया है सो आप बताइये? यद्यपि राजा वसु के स्मरण में तत्क्षण ही सही अर्थ आ गया कि तीन वर्ष के पुराने

धान से हवन करना चाहिए, ऐसा गुरु जी ने अर्थ किया था। फिर भी उन्होंने गुरु माता को दिये गये "वर" (वचन) के निमित्त से सत्य से विपरीत असत्य का पक्ष लेते हुए अपने मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की कुछ परवाह न कर कह दिया—

"जो पर्वत कहता है सो सत्य है, गुरु जी ने हमें ऐसा ही अर्थ बताया था"

प्रकृति को ऐसा यह घोर अन्याय सहन नहीं हुआ अतः राजा वसु का सिंहासन पृथ्वी में गिर पड़ा और उसी के साथ राजा वसु भी पृथ्वी में धँसने लगा। यह देख नारद ने तथा सभा में बैठे प्रतिष्ठित लोगों ने जोर-जोर से कहा—

"राजन्! देख लो, इतने महाझूठ का फल, जो कि तुम्हारा सिंहासन पृथ्वी में धँसता जा रहा है। संभलो, संभलो, अभी भी सत्य बोलो, सत्य बोलो।"

इतना समझाया जाने पर भी राजा वसु नहीं संभला और पुनः बोला—

"जो पर्वत कहता है वही सत्य है।"

इस महापाप के फलरूवरूप उसी समय पृथ्वी फटती चली गई और राजा का सिंहासन उसमें धँसता चला गया। तब वह राजा मरकर सातवें नरक में चला गया। अहो! इस मूढ़ बुद्धिरूप असत्य को धिक्कार हो, धिक्कार हो। इस दुर्घटना से शहर में हाहाकार मच गया। पर्वत की इस दुष्टता से शहर के न्यायप्रिय लोगों ने उसे गधे पर बिठा कर शहर से बाहर निकाल दिया और नारद का बहुत प्रकार से आदर-सत्कार किया। इसलिए पूजा में यह पंक्ति आती है "वसु झूठ सेंती नरक पहुँचा स्वर्ग में नारद गया।" अतः असत्य न कभी बोलना चाहिए और न असत्य का पक्ष ही लेना चाहिए।

असत्यवादी लोग अपने गुरु, मित्र और बंधुओं के साथ भी विश्वासघात करके दुर्गति में चले जाते हैं। किन्तु सत्य बोलने वाले लोगों को वचन सिद्धि हो जाया करती है। क्रमशः सत्य के प्रभाव से वे दिव्यध्वनि के स्वामी होकर असंख्य प्राणियों को धर्म का उपदेश देकर मोक्ष मार्ग का प्रणयन करते हैं। इसलिए हमेशा सत्य धर्म का आदर करना चाहिये।

जाप्य—**ॐ ह्रीं अर्हं उत्तमसत्यधर्माङ्गाय नमः।**

उत्तम सत्य

सत् सम्यक् और प्रशस्त वचन, कहता है सत्यधर्म सुन्दर।
अस्ति को अस्ति रूप कहना, मिथ्या अपलाप रहित सुखकर।।
गर्हित निंदित पैशून्य वचन, अप्रिय कर्कश हिंसादि वचन।
क्रोधादि बैर अपमान करी, उत्सूत्र और आक्रोश वचन।।1।।

छेदनभेदन सावद्य वचन, आरोप अरति करने वाले।
मंत्री श्री वंदक सम झूठे, वच निज के दृग् हरने वाले।।
वसु नृपति असत् का पक्ष लिया, सिंहासन पृथ्वी में धसका।
मरकर वह सप्तम नरक गया, है झूठ वचन सबको दुखदा।।2।।

प्रिय वचनों से मन को हर ले, ऐसे मृदुभाषी बहु जन हैं।
जो अप्रिय पर हितकर होवे, ऐसे वक्ता श्रोता कम हैं।।
हितकर औ पथ्य सहित वाणी, जग में वच सिद्धि करती है।
सच भाषा सचमुच ही जग में, दिव्यध्वनि को भी वरती है।।3।।

प्रिय हित मित मधुर वचन सुन्दर, सबमें विश्वास प्रगट करते।
ये उत्तम सत्य वचन जग में, अप्रिय जन को भी वश करते।।
विश्वासघात है पाप महा, नहिं कभी भूलकर करना तुम।
जैसा तुम अपने प्रति चाहो वैसा सबके प्रति करना तुम।।4।।

आत्मा से भिन्न सभी पर हैं, उनको नहिं अपना मानो तुम।
सब से मन भाव हटा करके, अपने को ही पहचानों तुम।।
हे आत्मन् ! अपने में सम्यक् अपना अवलोक कर लो तुम।
सब ही संकल्प विकल्पों को, तजकर अपने को भज लो तुम।।5।।

उत्तम शौच धर्म

सउच जि धम्मंगउ तं जि अभंगउ भिण्णंगउ उवओगमउ।
जर-मरण-विणासणु तिजगपयासणु झाइज्जइ अह-णिसि जिधुउ।।
धम्म सउच्चु होइ-मण सुद्धिएँ, धम्म सउच्चु वयण-धण-गिद्धिएँ।
धम्म सउच्चु कसाय अहावें, धम्म सउच्चु ण लिप्पइ पावें।।
धम्म सउच्चु लोहु वज्जंतउ, धम्म सउच्चु सुतव-पहि जंतउ।
धम्म सउच्चु बंभ-वय धारणि, धम्म सउच्चु मयट्ठ णिवारणि।।
धम्म सउच्चु जिणायम-भणणे, धम्म सउच्चु सगुण-अणुमणणे।
धम्म सउच्चु सल्ल-कय-चाए, धम्म सउच्चु जि णिम्मलभाए।।
अहवा जिणवर-पुज्ज विहाणें, णिम्मल-फासुय-जल-कय-ण्हाणे।
तं पि सउच्चु गिहत्थहं भासिउ, ण वि मुणिवरहं कहिउ लोयासिउ।।

—घत्ता—

भव मुणिवि अणिच्चउ धम्म सउच्चउ पालिज्जइ एयग्गमणि।
सुह-मग्ग-सहायउ सिव-पय-दायउ अण्णु म चिंतह किं पि खणिं।।

अर्थ—शौच धर्म का अंग है, वह अभंग है, शरीर से भिन्न है और उपयोगमयी है। जरा, बुढ़ापा और मरण का विनाश करने वाला है, तीनों जगत् को प्रकाशित करने वाला है और ध्रुव है, उसका दिन-रात सतत ध्यान करना चाहिए।

यह शौच धर्म मन की शुद्धि से होता है, शौच धर्म वचनरूपी धन की गृद्धि पकड़ से होता है, शौच धर्म कषायों के अभाव से होता है और यह शौच धर्म जीवों को पापों से लिप्त नहीं करता है।

शौच धर्म लोभ का वर्जन करता है, शौच धर्म उत्तम तप के मार्ग में लगाता है, उत्तम शौच धर्म ब्रह्मचर्य के धारण करने से होता है और यह शौच धर्म आठ प्रकार के मदों के निवारण से होता है।

शौच धर्म जिनागम का कथन करने से होता है, शौच धर्म आत्मा के गुणों को सतत मनन करने से होता है, शौच धर्म शल्यों के त्याग करने से होता है और यह शौच धर्म निर्मल भावों को करने से होता है।

अथवा यह शौच धर्म जिनवर के पूजा-विधान करने से होता है और निर्मल प्रासुक जल से स्नान करने से होता है। किन्तु यह (पूजन-स्नान आदि) शौच

धर्म गृहस्थों के लिए कहा गया है, मुनिवरों के लिये नहीं है क्योंकि यह लोकाश्रित है।

संसार को अनित्य समझकर एकाग्र मन से इस शौच धर्म का पालन करना चाहिए। यह सुख के मार्ग का सहायक है और शिवपद का दायक है। इसके सिवाय अन्य किसी का क्षण मात्र के लिए भी चिंतवन मत करो।

शुचेर्भावो भवेत् शौचमन्तर्लोभो निवार्यताम्।
या निर्लोभवती देवी त्वया नित्यमुपास्यताम्।।1।।

कामधेनुं ऋषिं हत्वा कृतवीरोऽहरत् ततः।
जघानैकविंशतिशः क्षत्रियान् जमदग्निजः।।2।।

देहीति वाक्यतो नूनं, नाऽप्यणुवल्लघुर्भवेत्।
दाता गगनवल्लोके, विशालः स्याच्च कीर्तिमान्।।3।।

जलाद्यैर्बाह्यशुद्धिं च, कुर्वंति श्रावकाः सदा।
स्वात्मशुद्धिं च कुर्वंति साधवो ब्रह्मचारिणः।।4।।

ज्ञानामृतैरहं शश्वदात्मकर्ममलं नुदन्।
स्वयं शौचगुणैः लप्स्ये स्वात्मसौख्यामृतं शुचि।।5।।

'प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्'[1]। प्रकर्षता को प्राप्त ऐसे लोभ का अभाव करना शौच धर्म है।

शुचि—पवित्रता का भाव शौच है अर्थात् अंतरंग के लोभ को दूर कीजिये और जो निर्लोभवती देवी है उसकी नित्य ही उपासना कीजिये। राजा कृतवीर ने जमदग्नि ऋषि को मारकर उसकी कामधेनु का अपहरण कर लिया तब ऋषि पुत्र परशुराम ने भी क्रुद्ध होकर इक्कीस बार राजवंश को समूल नष्ट कर दिया। 'देहि' अर्थात् देओ! इस वाक्य से निश्चित ही यह मनुष्य अणु के समान लघु हो जाता है और देने वाला दाता लोक में आकाश के समान विशाल और कीर्तिमान हो जाता है। श्रावक हमेशा जल आदि से बाह्य शुद्धि करते हैं और साधुगण तथा ब्रह्मचारी जन आत्म शुद्धि करते हैं। मैं ज्ञानरूपी अमृत से हमेशा आत्मा के कर्म मल को दूर करते हुये स्वयं शौच गुणों से पवित्र अपनी आत्मा के सुखरूपी अमृत को प्राप्त करूँगा।।1 से 5।। प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा ऐसी भावना करते रहना चाहिये।

1. सर्वार्थसिद्धि।

शुद्धि के मुख्य रूप से दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यंतर। जल आदि से बाह्य शरीर आदि के मल का नाश होता है और लोभ कषाय आदि के त्याग से अंतरंग की पवित्रता होती है। गंगा आदि तीर्थों में स्नान करने से यदि पापमल धुलते होते तो सारे मगरमच्छ मोक्ष चले जाते। पापमल को धोने के लिए धर्म तीर्थ में ही स्नान करना पड़ेगा। निर्धन धन को प्राप्त न करके दुःखी होते हैं और धनी लोग भी तृप्त न होकर दुःखी रहते हैं। बड़े कष्ट की बात है कि संसार में सभी दुःखी हैं बस एक मुनि ही सुखी हैं।[1] आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसमें सारा विश्व अणु के समान प्रतीत होता है फिर बताओ यदि सब को इस विश्व का बँटवारा करके दिया जाये तो किसके पल्ले कितना पड़ेगा ?

धन की आशा का उदाहरण देखिये—

चम्पापुर के राजा अभयवाहन की रानी पुण्डरीका बहुत ही दयालु थी। उसी शहर में लुब्धक नाम का एक सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम नागवसु था। इनके दो पुत्र थे—गुरुड़दत्त और नागदत्त।

लुब्धक के पास बहुत धन था किन्तु वह महाकंजूस था। उसने बहुत कुछ खर्च करके पक्षी मोर, कबूतर, तोता आदि तथा पशुओं में हिरण, हाथी, घोड़ा, सिंह, ऊँट, बकरा आदि अनेक पशु-पक्षियों की सोने की जोड़ियाँ बनवाई थीं। इनके सींग, पूँछ, खुर आदि में अच्छे-अच्छे बहुमूल्य हीरा, मोती, माणिक रत्नों को जड़वाया था। जो इन जोड़ियों को देखता वह बहुत ही खुश होता और लुब्धक सेठ की तारीफ किये बगैर नहीं रहता। स्वयं लुब्धक भी अपनी इस जगमगाती प्रदर्शनी को देखकर फूला नहीं समाता था। इतना सब कुछ करने के बावजूद भी उसे एक दुःख खटकता रहता था। वह यह कि उसने बैल की जोड़ी बनवाना शुरू की थी, उसमें एक ही बैल बन पाया था किन्तु सोना न रह जाने के कारण उसकी जोड़ी नहीं बन पाई थी। बस वह उस जोड़ी को पूरी करने की चिंता में ही लगा रहता था।

एक बार वर्षाऋतु में सात दिन तक लगातार पानी की झड़ी लगी रही। नदी-नाले सब में पूर आ गया। तब भी वह कर्मवीर लुब्धक ऐसे समय में भी दूसरे बैल के लिये धन कमाने हेतु लकड़ी इकट्ठा करने के लिये स्वयं नदी पर गया और बहती नदी में से उसने बहुत सी लकड़ियाँ निकाल कर उनकी एक गठरी बनाई और उसे आप ही अपने सिर पर लादकर चलने लगा। देखो तो सही

1. सर्वार्थसिद्धि।

लोभियों की तृष्णा कितनी विशाल होती है।

इधर रानी पुण्डरीका अपने महल में बैठी हुई झरोखे से सारा दृश्य देख रही थी। महाराज अभयवाहन भी राजमहल में ही थे तब रानी ने राजा से कहा—

"हे महाराज! यह देखिये आप के शहर में इतना दरिद्री प्राणी रह रहा है। देखो तो सही, उसने नदी के बहते पूर से कितनी मेहनत से यह लकड़ियाँ इकट्ठी की हैं। यदि यह बेचारा इस पूर के प्रवाह में बह जाता तो अपने प्राणों से और जाता। ओह ! इस बेचारे गरीब पर दया कीजिए और उसे उचित धन देकर इसकी दरिद्रता दूर कीजिए।"

इतना सुनते ही राजा ने फौरन नौकर भेजकर उसे बुलाया। उसके आने पर राजा ने कहा—

"मालूम पड़ता है तुम्हारे घर की हालत अच्छी नहीं है। इसका मुझे खेद है कि इतने दिनों तक मेरा तुम्हारी ओर ध्यान नहीं गया। खैर ! अभी तुम्हें जितने रुपये-पैसों की जरूरत हो, तुम मेरे खजाने से ले जावो, लो मैं तुम्हें एक पत्र लिखे देता हूँ।"

इतना कहकर राजा पत्र लिखने लगे कि वह कहता है—

"महाराज ! मुझे और कुछ नहीं चाहिए, बस एक बैल की जरूरत है। कारण मेरे पास एक बैल तो है पर उसकी जोड़ी मिलाना है।"

राजा ने कहा—

"अच्छी बात है, तो जावो हमारे यहाँ बाड़े में बहुत से बैल हैं उनमें से तुम्हें जो पसन्द आये उसे ले जाओ।"

वह राजा के नौकरों के साथ गया और सारे बैलों को देखकर बोला—

"मेरा बैल सरीखा इनमें एक भी नहीं है।"

तब नौकर उसे राजा के पास वापस ले आये। राजा ने पूछा—

"भाई ! तुम्हारा बैल कैसा है, मेरी समझ में नहीं आया, क्या तुम मुझे उसे दिखाओगे ?"

लुब्धक बड़ी खुशी के साथ महाराज को अपना बैल दिखाना स्वीकार कर उन्हें अपने साथ घर लिवा लाया और उसने बड़े से हाल में रखे हुये सारे पशु-पक्षियों के जोड़े दिखाने लगा पुनः एक अकेले बैल को भी दिखाया। राजा लुब्धक के इतने सारे वैभव को देखकर दंग रह गये और सोचने लगे—

"अरे! जिसे हमने इतना बड़ा दरिद्री समझा था वह इतना बड़ा सेठ?"

लुब्धक की स्त्री नागवसु अपने यहाँ राजा को पधारे देखकर खुशी से उनके भेंट के लिये सोने के थाल में बहुमूल्य सुन्दर-सुन्दर रत्नों को सजाकर ले आई और पति के हाथ में देती हुई बोली—

"लीजिए, यह राजा को भेंट कीजिए।"

रत्नों के थाल को देना सुनते ही बेचारे महाकंजूस लुब्धक की तो ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई। क्या करता, महाराज साहब उसके साथ ही थे। अतः उसने काँपते हुये वह थाल हाथ में ले लिया और तो और ज्यों ही उसने थाल देने को महाराज के पास हाथ बढ़ाया तो लोभ के मारे उसकी अँगुलियाँ सर्प के फण के सदृश दीखने लगीं। तब राजा ने उसके लोभ की सारी स्थिति जान ली और उससे नफरत करते हुए बोले—

"अहो ! तू कितना कंजूस और कितना मूर्ख है। देख, तेरे हाथों से दान कैसे दिया जा सकता है ? तू तो 'फणहस्त' है।"

ग्लानि से मुख बिगाड़ कर ऐसा कहते हुये महाराज अभयवाहन अपने सामंतों के साथ उसके घर से तत्क्षण ही निकल पड़े और रास्ते में उसके लोभकषाय की चर्चा करते हुये अपने राजमहल वापस आ गये।

इधर लुब्धक की दूसरा बैल बनाने की आकांक्षा अभी पूरी नहीं हुई थी। अतः वह धन कमाने के लिए सिंहलद्वीप गया। वहाँ से चार करोड़ का धन कमा कर सारा माल-असबाब जहाज में लाद कर वापस आ रहा था कि तूफान ने जहाज समुद्र में उलट दिया। लुब्धक सेठ सारे धन को लेकर गहरे समुद्र में डूब गया। और धन के अतीव लोभ से मरकर अपने ही घर में साँप हो गया। वह सर्प सदा अपने घर की रक्षा किया करता था, यहाँ तक कि अपने पुत्रों को भी धन लेने नहीं देता था।

तब लुब्धक सेठ के बड़े लड़के ने क्रोध में आकर उसे मार डाला। उस समय वह बहुत ही खोटे रौद्र परिणामों से मरकर चौथे नरक में चला गया। देखो! लोभ के वश हुआ बेचारा सेठ न ठीक से खा सका, न खिला सका और न किसी को फूटी कौड़ी दे सका, केवल संग्रह-संग्रह में ही लगा रहा और मरकर तिर्यंच तथा नरकों के दुःखों का भाजन बन गया। इसलिये लोभ से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। इस परिग्रह में आसक्त हुये मनुष्य पता नहीं कौन-कौन से पाप कर बैठते हैं।

अयोध्या का राजा सहस्रबाहु अपने पुत्र कृतवीर के साथ किसी तपोवन में

पहुँच गया। ऋषि पत्नी रेणुकी ने उन्हें खीर का भोजन कराया तब राजा ने पूछा कि ऐसा भोजन तो हम लोगों के यहाँ भी नहीं है। रेणुकी ने बताया कि मेरे यहाँ गुरु प्रसाद से यह कामधेनु है। राजा के पुत्र कृतवीर ने उसकी याचना की, न देने पर ऋषि जमदग्नि को मारकर उसने उसकी गाय छीन ली। ऋषि पुत्र इंद्र और श्वेतराम जब समिधा लेकर आये उन्हें यह घटना विदित होते ही सीधे अयोध्या पहुँचे और अपने देवोपनीत फरसा के बल से सहस्रबाहु को मार डाला। उन ऋषि पुत्रों ने क्रोधित होकर इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय रहित कर दिया। अंत में सुभौम चक्रवर्ती के द्वारा मारे गये हैं[1]।

और भी अनेकों उदाहरण लोभ की हानि से देखने को मिलते हैं।

इस अयोध्या नगरी में एक सुरेन्द्रदत्त था। वह प्रतिदिन दस दीनारों से, अष्टमी को सोलह दीनारों से, अमावस को चालीस दीनारों से और चौदस को अस्सी दीनारों से भगवान् की पूजा करता था। प्रतिदिन पात्रों को दान देता तथा शील का पालन करता था और उपवासों को भी करता रहता था। किसी समय धन कमाने के लिए जल मार्ग से बारह वर्ष के लिए जाने लगा तब वह अपने मित्र रुद्रदत्त को बहुत सा धन देकर पूर्ववत् जिन पूजा आदि करने को कहकर आप चला गया। रुद्रदत्त धन पाकर लोभ में आकर उस धन को जुआ, परस्त्री सेवन आदि व्यसनों में समाप्त कर चोरी करने लगा। किसी समय कोतवाल द्वारा मारा गया और नरक में चला गया। वहाँ से निकल कर महामच्छ हुआ, फिर नरक गया, शार्दूल हुआ, नरक गया, गरुड़ हुआ, नरक गया, सर्प हुआ, नरक गया, भील हो गया, पुनः असंख्य भवों तक त्रस-स्थावर में भटकता रहा। पुनः कुछ पाप कर्म के मंद होने पर एक दरिद्र ब्राह्मण के पुत्र हुआ, उसका नाम गौतम था। पाप से सर्व कुल के क्षय हो जाने पर भीख माँगता फिरता था, बहुत ही दुःखी था। एक दिन आहार के लिये ग्राम में जाते हुये समुद्रसेन मुनिराज को देख कौतुक से उनके पीछे लग गया। वैश्रवण सेठ के यहाँ मुनि का आहार हुआ, सेठ ने उस बालक को भी भरपेट भोजन करा दिया। पुनः वह गौतम मुनि के आश्रम में पहुँचा और बोला आप मुझे अपने जैसा बना लीजिये। मुनिराज ने उसके वचन सुनकर भव्य समझकर कुछ दिन अपने पास रखा तदनन्तर उसे संयम ग्रहण करा दिया। उसने गुरुभक्ति, संयम और तपश्चरण के बल से अनेकों ऋद्धियाँ प्राप्त कर लीं। आयु के अंत में उपरिम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हो गये[2]।

1. आत्मानुशासन। 2. उत्तरपुराण, पर्व 65।

देखो! धर्म की संपत्ति के भक्षण से उसने कितने दुःख उठाये तथा एक बार की गुरु संगति ने उसे अहमिंद्र बना दिया। इस उदाहरण को देखकर व्यसन और धर्म के धन से हमेशा दूर रहना चाहिये।

जो मुनि के पसीने और धूलि के मैल से लिप्त शरीर के होने पर भी ग्लानि नहीं करते हैं वे ही अपने कर्म मैल को धो डालते हैं।

शुचि भूमिगतं तोयं शुचिर्नारी पतिव्रता।
शुचिर्धर्मपरो राजा ब्रह्मचारी सदा शुचिः।।

भूमि से निकला हुआ जल शुद्ध है, पतिव्रता स्त्री पवित्र है, धर्म में तत्पर राजा भी पवित्र है और ब्रह्मचारी गण सदा ही पवित्र रहते हैं। यही कारण है कि दिगम्बर मुनि स्नान नहीं करते हैं, यह उनका एक मूलगुण कहा गया है।

श्रावक स्नान आदि से व्यवहार शुद्धि करते हैं और धर्म के द्वारा आत्मा की भी शुद्धि करते हैं। तृष्णारूप अग्नि को संतोषरूपी जल से ही बुझाया जा सकता है। 'जो ग्रहण करने की इच्छा करने वाले हैं वे नीचे गिरते हैं और जो निःस्पृह रहते हैं वे ऊँचे उठते हैं। देखो !' तराजू के दो पलड़ों में से एक में कुछ भार होता है वह नीचे जाता है और हल्का पलड़ा ऊपर उठ जाता है। इन सब उदाहरणों को समझकर अपनी आत्मा को शौच धर्म के द्वारा पवित्र—शुद्ध बनाना चाहिये।

जाप्य—**ॐ ह्रीं अर्हं उत्तमशौचधर्माङ्गाय नमः।**

उत्तम शौच

शुचि का जो भाव शौच वो ही, मन से सब लोभ दूर करना।
निर्लोभ भावना से नित ही, सब जग को स्वप्न सदृश गिनना।।
जमदग्नि ऋषि की कामधेनु, हर ली वह कार्तवीर्य लोभी।
बस परशुराम ने नष्ट किया, क्षत्रिय कुल सात बार क्रोधी।।1।।

तनु इन्द्रिय जीवन औ निरोग, के लोभ महादुखदायी हैं।
इनको तज निज गुण का लोभी, मैं बनूँ यही सुखदायी है।।
निर्लोभवती भगवती कही, उसको मैं वन्दन करता हूँ।
जिसके प्रसाद से सभी जगत्, को इन्द्रजाल सम गिनता हूँ।।2।।

'देहि' यह शब्द उचरते ही, जन परमाणु सम लघु होते।
आकाश समान विशाल वही, जो जन देकर दानी होते।।
जल मंत्र और व्रत से त्रयविध, स्नान सदा जो करते हैं।
शुचि धौत वसन धरकर पूजन, दानादि क्रिया जो करते हैं।।3।।

व्यवहार शुद्धि करके श्रावक, मुनि निश्चय शुद्धि करते हैं।
वे ब्रह्मचारी हैं नित्य शुचि, रत्नत्रय से शुचि रहते हैं।।
यद्यपि रज स्वेद सहित मुनिवर, अति शुष्क मलिन तन होते हैं।
पर वे अन्तःशुचि गुणधारी, नितकर्म मैल को धोते हैं।।4।।

यह आत्मा कर्म मलीमस है, बस प्राणों का धर धर मरता।
जब तन से लोभ सम्मत हरता, तब बाह्याभ्यंतर मल हरता।।
मैं ज्ञानामृत का लुब्धक बन, पर में सब लोभ समाप्त करूँ।
तब स्वयं शौचगुण से पवित्र, अपने में परमाह्लाद भरूँ।।5।।

उत्तम संयम धर्म

संजमु जणि दुल्लहु तं पाविल्लहु जो छंडइ पुणु मूढमइ।
सो भमइ भवावलि जर-मरणावलि किं पावेसइ पुणु सुगइ।।
संजमु पंचिंदिय-दंडणेण, संजमु जि कसाय-विहंडणेण।
संजमु दुद्धर-तव धारणेण, संजमु रस-चाय-वियारणेण।।
संजमु उपवास-विजंभणेण, संजमु मण-पसरहं थंभणेण।
संजमु गुरुकाय-किलेसणेण, संजमु परिगह-गह चायणेण।।
संजमु तस थावर-रक्खणेण, संजमु सत्तत्थ-परिक्खणेण।
संजमु तणु-जोय णियंतणेण, संजमु बहु-गमणु चयंतएण।
संजमु अणुकंप कुणंतएण, संजमु परमत्थ-विचारणेण।
संजमु पोसइ दंसणहं पंथु, संजमु णिच्छय णिरु मोक्ख-पंथु।।
संजमु विणु णर-भव सयलु सुण्णु, संजमु विणु दुग्गइ जि उववण्णु।
संजमु विणु घडिय म इत्थ जाउ, संयमु विणु विहलिय अत्थि आउ।।

—घत्ता—

इह-भवि पर-भवि संजमु सरणु हुज्जउ जिणणाहें भणिउ।
दुग्गइ-सर-सोसण-खर-किरणोवम जेण भवालि विसमु हणिउ।।

अर्थ—इस संसार में संयम धर्म दुर्लभ है, जो प्राप्त कर उसे छोड़ देता है वह मूढ़मति है, वह जरा और मरण के समूह से व्याप्त इस संसाररूपी वन में परिभ्रमण करता रहता है, पुनः वह सुगति को कैसे प्राप्त कर सकता है?

पाँचों इन्द्रियों के दमन करने से संयम होता है, कषायों का निग्रह करने से संयम होता है, दुर्धर तप के धारण करने से संयम होता है और रस परित्याग के विचार भावों से संयम होता है।

उपवासों के बढ़ाने से संयम होता है, मन के प्रसार को रोकने से संयम होता है, बहुत प्रकार के कायक्लेश तप से संयम होता है और परिग्रहरूपी पिशाच के छोड़ने से संयम होता है।

त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा से संयम होता है, सात तत्वों के परीक्षण से संयम होता है, काययोग के नियंत्रण से संयम होता है और बहुत गमन के त्याग से संयम होता है।

अनुकंपा करने से संयम होता है, परमार्थ तत्त्व के विचार करने से संयम

होता है, यह संयम सम्यग्दर्शन के मार्ग को पोषित करता है और वह संयम ही निश्चय से मोक्ष का मार्ग है।

संयम के बिना यह सारा मनुष्य भव शून्य के समान है, संयम के बिना यह जीव दुर्गति में जन्म ले लेता है। इसलिये संयम के बिना एक घड़ी भी व्यर्थ मत जीओ, क्योंकि संयम के बिना सम्पूर्ण आयु विफल है।

इस भव में और परभव में संयम ही शरण हो सकता है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है। यह दुर्गतिरूपी सरोवर का शोषण करने के लिये तीक्ष्ण किरणों के समान है। इस उत्तम संयम से ही विषम भवावली का नाश होता है।

प्राणीन्द्रियैर्द्विधा प्रोक्तः, संयमः संयतैः जनैः।
षट्कायजीवरक्षा स्यात् पंचेंद्रियमनोजयः।।1।।

जीवानां संकुले लोके, कुर्वे ह्याचरणं कथम्।
भाषे भुंजे कथं स्वामिन्! यतो पापं न बध्यते।।2।।

यत्नादाचरणं कुर्याः, यत्नात् भाषण भोजनम्।
यत्नात् सर्वां क्रियां कृत्वा त्वया पापं न बध्यते।।3।।

एकव्रतयुतं शत्रुं सीताचरोऽपि रावणम्।
सम्यक्त्वं ग्रहयित्वा सोऽकार्षीत् वैरविमोचनम्।।4।।

संयम्येंद्रियचेतोऽहं वाञ्छामि स्वात्मनि स्थितिं।
कर्म कर्मफलं भुंजन, मनाक् खेदमनाप्नुयाम्।।5।।

'समितिषु वर्तमानस्य प्राणींद्रिय परिहारस्संयमः[1]**।'** समिति में प्रवृत्त हुये मुनि जो प्राणी हिंसा और इन्द्रिय विषयों का परिहार करते हैं सो संयम हैं।''

संयत मुनियों में प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम की अपेक्षा दो भेद हैं। पाँच स्थावर और त्रस ऐसे षट्काय जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है और पाँच इन्द्रिय तथा मन का जय करना इन्द्रिय संयम है। हे भगवन्! जीवों से ठसाठस भरे हुये इस संसार में मैं कैसे प्रवृत्ति करूँ ? कैसे बोलूँ ? और कैसे भोजन करूँ ? कि जिससे पाप का बंध नहीं होवे ? इस प्रकार से प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि यत्नपूर्वक आचरण करो, यत्नपूर्वक भाषण और भोजन करो तथा यत्नपूर्वक सम्पूर्ण क्रिया करने से तुम्हें पाप का बंध नहीं होगा। देखो ! सीता का जीव जब अच्युतेन्द्र हुआ 'एक व्रत को धारण करने से रावण मेरे साथ बलात्कार

1. सर्वार्थसिद्धि।

के लिये प्रयत्नशील नहीं हुआ' ऐसा सोचकर वह अच्युतेंद्र नरक में जाकर रावण को सम्यक्त्व ग्रहण कराकर वैर का त्याग करा देता है। मैं सर्व इंद्रिय और मन को नियन्त्रित करके अपनी आत्मा में स्थित करना चाहता हूँ कि जिससे कर्म और कर्म के फल को भोगता हुआ किंचित् मात्र खेद को न प्राप्त होऊँ।।1 से 5।। प्रतिदिन ऐसी भावना भाते रहना चाहिए।

इस प्रकार से वह संयम पूर्णतया मुनियों के ही होता है किंतु गृहस्थ भी एक देश रूप से संयम का पालन करते हैं चूँकि उनकी छह आवश्यक क्रियाओं में संयम भी एक क्रिया हैं कुछ न कुछ नियम का लेना एक संयम है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी प्रत्येक कार्य को सावधानीपूर्वक करना संयम है। सावधानीपूर्वक चलना, फिरना, उठना, बैठना भी संयम है। चौराहे की लालबत्ती संयम को सिखाती है जो उसकी उपेक्षा करते हैं वह जीवन को भी खतरे में डाल देते हैं। अभक्ष्य का त्याग कर देना तथा खाने योग्य वस्तु को भी जब तक नहीं खाते, तब तक के लिए छोड़ देना भी संयम है। इसलिये जो रात्रि में सर्वथा आहार का त्याग कर देते हैं तो एक महीने में पंद्रह दिन के उपवास के फल को प्राप्त कर लेते हैं।

'कुलवांता नाम की एक दरिद्र कन्या ने धर्म बुद्धि से किसी समय एक मुहूर्त तक के लिये अन्न का त्याग कर अनशन धारण कर लिया जिसके फलस्वरूप सल्लेखना से मरणकर किंपुरुष नामक देव की क्षीरधारा नामक देवी हुई। कालांतर में इंद्र नाम का विद्याधर होकर निर्वाण को प्राप्त कर लिया[1]।'

अनंतबल मुनिराज केवली हो गये थे। उनके निकट धर्मोपदेश सुनकर रावण ने व्रत लिया कि 'जो परस्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे ग्रहण नहीं करूँगा।' कुंभकर्ण ने यह नियम लिया कि 'मैं प्रतिदिन प्रातःकाल अभिषेकपूर्वक जिनेन्द्र देव की पूजा करूँगा और जब तक निर्ग्रंथ मुनियों की विधिपूर्वक पूजा नहीं कर लूँगा आज से मैं तब तक भोजन नहीं करूँगा[2]।' क्योंकि सम्यग्दृष्टि के लिए एक ही व्रत मुक्ति का बीज हो जाता है। रावण की इस प्रतिज्ञा के निमित्त से सीता के जीव इंद्र ने प्रभावित होकर नरक में जाकर उसे सम्यग्दर्शन ग्रहण करा दिया। 'संयम से युक्त मुनिजन चतुर्थकाल में एक हजार वर्ष में जितने कर्मों की निर्जरा करते थे आज के संयमी मुनि एक वर्ष में उतनी निर्जरा कर लेते हैं चूँकि आजकल संहनन हीन है[3]। आचार्य शांतिसागर महाराज कहा करते थे—

1. पद्मपुराण, प्र. पृ. पर्व 13, पृ. 301। 2. पद्मपुराण, प्र. पृ. पर्व 14, पृ. 333। 3. भावसंग्रह, गाथा 131।

'बाबा नो संयम धारण करा, भिऊ नका भिऊ नका। भव्यों! संयम धारण करो डरो मत।' जब तीर्थंकर महापुरुष संयम धारण करने के सन्मुख होते हैं उस समय किसी कल्याणक में न आने वाले लौकान्तिक देव आकर उनकी पूजा करते हैं उनके वैराग्य की स्तुति करते हैं।

'अहिच्छत्र के राजा वसुपाल ने 'सहस्रकूट' जिनमंदिर बनवा कर पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की, उस पर लेप चढ़ाने के लिए कारीगर बुलाया। वह रोज प्रतिमा पर लेप चढ़ाता था, किन्तु लेप रात्रि में गिर जाता था। तब मुनि ने बताया कि जब यह कारीगर मांस न खाने का व्रत लेगा तब लेप चढ़ेगा। कारीगर के नियम लेकर लेप चढ़ाने के बाद लेप टिक गया।'

इन सब उदाहरणों से संयम का महत्त्व समझकर संयम धर्म को धारण करना चाहिये। समय आरे के समान आयु के क्षणों को काटता चला जा रहा है अतः जल्दी करना चाहिये।

संयम से ही मनुष्य महान् और पूज्य बन जाता है

एक राजा ने विशाल वैभव को महान समझते हुए दिगम्बर मुनि से उसके त्याग का कारण पूछा। जब मुनि ने त्याग-संयम में ही सच्चा सुख बतलाया तो उसने भी राज्य वैभव को छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। कथा ऐसी है—

पद्मिनी नामा नगर में किसी समय ''मतिवर्धन'' नाम के दिगम्बराचार्य चतुर्विध संघ सहित पधारे। उनके संघ में महातपस्वी ज्ञानी और ध्यानी सभी तरह के मुनि धर्मध्यान में परायण थे। ''अनुद्धरा'' नाम की आर्यिका थीं जो कि सर्व आर्यिकाओं की रक्षा करने में तत्पर गणिनी थीं। वह विशाल संघ वहाँ आकर नगर के बाहर के उद्यान में आचार्य देव की आज्ञा से ठहर गया। उस उद्यान का माली अपने साथियों को साथ लेकर भय से काँपता हुआ पद्मिनी नगरी के महाराजा विजयपर्वत के राजदरबार में पहुँचा और नमस्कार करके निवेदन करने लगा—

''महाराज ! आगे तो बहुत अधिक ऊँची ढालू चट्टान है और पीछे व्याघ्र हैं, बताइये हम किसी की शरण में जायें ?

महाराज ने आश्चर्य युक्त हो पूछा—

''बोलो, बोलो, क्या कह रहे हो ? क्या संकट उपस्थित हुआ है?' उन किंकरों में प्रमुख वनपाल ने कहा—

''महाराज ! उद्यान की रमणीय भूमि में मुनियों का एक विशाल संघ आकर ठहर गया है। यदि इस संघ को हम मना करते हैं तो शाप को प्राप्त होते हैं और यदि नहीं मना करते हैं तो आप क्रोध को प्राप्त होंगे, इस प्रकार हम लोगों पर बड़ा संकट आ पड़ा है। हे राजन् ! आपके प्रसाद से हम लोगों ने वह उद्यान कल्पवृक्षों के उद्यान के समान बना रखा है। उसमें साधारण पामर मनुष्य प्रवेश भी नहीं कर सकते हैं, किन्तु जो तप के तेज से अत्यन्त दुर्गम हैं ऐसे निर्ग्रंथ मुनियों को देव भी रोकने में समर्थ नहीं हैं फिर भला हम जैसे लोगों के द्वारा उन्हें कैसे रोका जा सकता है ?

यह सुनकर राजा आश्चर्य से युक्त होकर उन लोगों को सान्त्वना देते हुये बोले—

''डरो मत, वे मुनिगण ठहर चुके हैं तो अब कोई बात नहीं है, हम स्वयं ही वहाँ आ रहे हैं।''

पुनः राजा विशाल वैभव के साथ उद्यान भूमि में पहुँचकर उस चतुर्विध संघ को देखता है। वहाँ पर सभी साधु वन की धूलि से धूसरित हो रहे थे। उनमें से कोई मुनिराज जिनेन्द्र देव की स्तुति, वंदना में तत्पर थे, कोई भुजाओं को लटकाकर जिनमुद्रा से ध्यान कर रहे थे, कोई स्वाध्याय में लीन थे, कोई अध्ययन कर रहे थे, तो कोई महाविद्वान मुनि अन्य साधुओं को सिद्धान्त ग्रंथों का अध्ययन करा रहे थे। किन्हीं मुनियों के शरीर बेला, तेला आदि उपवासों से अतिशय क्षीण हो रहे थे फिर भी उनके चेहरे की दीप्ति व उनका अपना उत्साह उनके आत्मबल को, उनके मनोबल को स्पष्ट घोषित कर रहा था।

एक तरफ आर्यिकाओं के समुदाय में भी वन की धूलि से लिप्त एक साड़ी मात्र परिग्रह को धारण करने वाली उन आर्यिकाओं में कुछ आर्यिकायें मधुर स्वर से पाठ गुनगुना रही थीं, कुछ स्वाध्याय क्रिया में तत्पर थीं, कुछ पठन-पाठन में व्यस्त थीं, कहीं पर सिद्धान्त के गूढ रहस्यों का उद्घाटन हो रहा था तो कहीं पर महापुरुषों के चरित्र का बखान चल रहा था।

राजा क्रम-क्रम से सभी साधु-साध्वियों की वंदना करते हुये उनके गुणों से प्रसन्न हो रहे थे। अंत में वे आचार्य देव की वंदना करके उनके निकट बैठकर विनयपूर्वक बोले—

''भगवन् ! आपके शुभ लक्षणों से युक्त जैसी आपकी दीप्ति है वैसे भोग आपके चरण कमल में स्थित क्यों नहीं हैं ?''

आचार्य देव ने उत्तर दिया—

हे नरश्रेष्ठ! ये संसार के विषयभोग सुखदायी हैं यह कल्पना कहाँ तक सत्य है ? पहले आप इसे समझो तब आपको पता चलेगा कि ये भोग महान् नहीं हैं प्रत्युत इनको तृणवत् समझकर इनका त्याग करने वाले संयमी साधु ही महान् हैं। देखो ! यह जीवन, यह यौवन, यह राज्यसंपदा, यह विशाल वैभव कितने दिन तक टिकने वाला है ? क्या इनमें से कोई भी वस्तु स्थायी शांति दे सकती है ?

राजा गुरुदेव के इन प्रश्नों को सुनकर कुछ क्षण के लिए परमविस्मय को प्राप्त हो गया और और विचार करने लगा कि वास्तव में इनमें से कुछ भी टिकने वाला नहीं है ? पुनःकिस वस्तु से सुख की आशा की जाये ? पुनरपि राजा प्रश्न करता है—

"भगवन् ! पुनः इस संसार में स्थायी वस्तु क्या है ?"

"राजन् ! स्थायी वस्तु अपनी आत्मा है और उसका सुख ही सच्चा सुख है। यह शरीर नश्वर है, जड़ है और अनंत दुःखों की खान है।"

इत्यादि रूप से मुनिपति के मुखकमल से निर्गत धर्मोपदेश को सुनकर राजा संसार के भोगों से विरक्त हो गया और उसी समय वह अपने विशाल वैभव को जीर्ण-तृणवत् त्यागकर तथा संयम धारण कर दिगम्बर मुनि हो गया। उस समय राजा को दीक्षित हुआ देखकर अनेकों भव्य जीवों ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। जो दीक्षा लेने में अपने को सर्वथा असमर्थ समझ रहे थे ऐसे अनेकों ने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये।

सच है यदि संयम का महत्त्व अधिक न होता तो बड़े-बड़े राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और इन्द्र भी मुनियों को नमस्कार क्यों करते !

जाप्य—**ॐ ह्रीं अर्हं उत्तमसंयमधर्माङ्गाय नमः।**

उत्तम संयम

व्रत धारण समिति का पालन, क्रोधादि कषाय विनिग्रह है।
मन वच तन की चेष्टा त्यागे, इन्द्रिय जप संयम पाँच कहे।।
अथवा त्रसथावर षट्कायों की, रक्षा पंचेन्द्रिय मन जय।
द्वादशविध संयम को पालें, वे मुनिवर संतत व्रतगुणमय।।1।।

इस जीव लोक में हे स्वामिन् ! कैसे आचरण करें मुनिगण ?
कैसे ठहरें, कैसे बैठें, कैसे सोयें, कैसे भोजन ?
कैसे बोले जिस विध पापों, से बंध नहीं फिर हो सकता ?
बस यत्नाचार प्रवृत्ति हो, तब बंध स्वयं ही रुक सकता।।2।।

जितना भी संयम पालो, थोड़ा भी संयम गुणकारी।
श्रावक भी एक देश पालें, त्रस हिंसा के नित परिहारी।।
रावण के एक नियम से ही, सीतेन्द्र नरक में जा करके।
सम्यक् निधि देकर तृप्त किया, लक्ष्मण से बैर मिटा करके।।3।।

यह संयम है व्यवहार धर्म, निश्चय संयम को प्रगट करे।
आत्मा में ही निश्चित होकर, रागादि विभाव अभाव करे।।
निश्चय संयम ही इन्द्रिय के, मन के व्यापार खत्म करके।
अपनी ही रक्षा करता है, षट् जीव काय का वध हरके।।4।।

इन्द्रिय व्यापार नियन्त्रण कर, मन का भी निग्रह कर पाऊँ।
उस क्षण में अन्तर में स्थिर हो, स्वात्म सुधारस को पाऊँ।।
सम्यक् पूर्वक यम के बल से, यमराज शत्रु को वश्य करूँ।
निज उत्तम संयम धर्म सहित, मैं सिद्धि वधू को शीघ्र वरूँ।।5।।

उत्तम तप धर्म

णर-भव पावेप्पिणु तच्च मुणेप्पिणु खंचिवि पंचिंदिय समणु।
णिव्वेउ पमंडि वि संगइ छंडि वि तउ किज्जइ जाएवि वणु।।
तं तउ जहिं परगहु छंडिज्जइ, तं तउ जहिं मयणु जि खंडिज्जइ।
तं तउ जहिं णग्गत्तणु दीसइ, तं तउ जहिं गिरिकंदरि णिवसइ।।
तं तउ जहिं उवसग्ग सहिज्जइ, तं तउ जहिं रायाइं जिणिज्जइ।
तं तउ जहिं भिक्खइ भुञ्जिज्जइ, सवाय-गेह कालि णिवसिज्जइ।।
तं तउ जत्थ समिदि परिपालणु, तं तउ गुत्ति-त्तयंह णिहालणु।
तं तउ जहिं अप्पापरु बुज्झिउ, तं तउ जहिं भव-माणु जि उज्झिउ।।
तं तउ जहिं ससरूव मुणिज्जइ, तं तउ जहिं कम्महं गणु खिज्जइ।
तं तउ जहिं सुर भत्ति पयासइ, पवयणत्थ भवियणहं पभासइ।।
जेण तवें केवलु उप्पज्जइ, सासय सुक्खु णिच्च संपज्जइ।

—घत्ता—

बारह-विहु तउ वरु दुग्गइ परिहरु तं पूजिज्जइ थिरगणिणा।
मच्छरु मउ छंडिवि करणइं दंडिवि तं पि धइज्जइ गउरविणा।।

अर्थ—मनुष्य भव को प्राप्त कर, तत्वों का मनन करके, मन के साथ-साथ पाँचों इन्द्रियों का दमन करके, निर्वेद को प्राप्त होकर और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके वन में जाकर भी तप करना चाहिए।

तप वह है जहाँ परिग्रह का त्याग किया जाता है, तप वह है जहाँ काम को भी नष्ट कर दिया जाता है, तप वह है जहाँ नग्न मुद्रा दिखाई देती है और तप वह है जहाँ पर्वतों की कंदराओं में निवास किया जाता है।

तप वह है जहाँ उपसर्ग को सहन किया जाता है, तप वह है जहाँ रागादि भावों को जीता जाता है, तप वह है जहाँ भिक्षावृत्ति से भोजन किया जाता है और श्रावक के घर योग्य काल में जाया जाता है।

तप वह है जहाँ समिति का परिपालन होता है, तप वह है जहाँ तीन गुप्तियों की ओर ध्यान दिया जाता है, तप वह है जहाँ अपने और पर के स्वरूप का विचार किया जाता है और तप वह है जहाँ भव-पर्याय के अहंकार को छोड़ा जाता है।

तप वह है जहाँ अपने स्वरूप का चिंतवन किया जाता है, तप वह है जहाँ

कर्मों का नाश किया जाता है, तप वह है जहाँ देवगण अपनी भक्ति प्रकाशित करते हैं और जहाँ भव्य जीवों के लिए प्रवचन के अर्थ का कथन किया जाता है।

तप वह है जिसके होने पर निश्चित ही केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है और जिससे नित्य शाश्वत सौख्य की प्राप्ति की जाती है।

बारह प्रकार का तप उत्तम है और दुर्गति का परिहार करने वाला है। अतः स्थिर मन होकर उसकी पूजा करनी चाहिये और मद तथा मात्सर्य भावों को छोड़कर पाँचों इन्द्रियों का दमन कर गौरव के साथ उस उत्तम तप को धारण करना चाहिये।

तपो द्वादशधा प्रोक्तं, बाह्याभ्यंतरसंयुतम्।
बाह्यमनशनादि स्यात्, प्रायश्चित्तादि चांतरम्।।1।।

सम्यक् तपांसि रुन्ध्दंति, पतनं भववारिधौ।
कायं कृष्ट्वा समाप्नोति नरोऽनंतबलं सुखम्।।2।।

मयनाममुनीशं सा स्पृष्ट्वा सिंहेन्दुकं पतिं।
अस्प्राक्षीत् तत्क्षणं सोऽपि, निर्विषस्तमपूजयत्।।3।।

तपोभिर्दीप्ततप्ताद्याः ऋद्धयः प्रभवन्त्यरम्।
निस्पृहा अपि ते सन्तः कथ्यन्तेऽत्र तपोधनाः।।4।।

इच्छां सर्वां निरुध्याशु, तप्त्वा सम्यक् तपः स्वयं।
ध्यानाग्नौ कर्मकाष्ठानि क्षिप्त्वा शुद्धो भवाम्यहम्।।5।।

'कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः।' कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है।

तप के बाह्य और आभ्यंतर से युक्त बारह भेद कहे गए हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान ये छह अंतरंग तप हैं। सम्यक् तप जीव के संसार समुद्र में पतन को रोक लेते हैं। मनुष्य काय को कृश करके अपने अनंतबल और सुख को प्राप्त कर लेता है। एक रानी ने मय नाम के ऋद्धियुक्त मुनि का स्पर्श करके विष से मूर्छित अपने पति राजा सिंहेंदु का स्पर्श किया जो उसी क्षण वे निर्विष हो गए पुनः उन मुनि की पूजा की। तप के प्रभाव से दीप्त तप, तप्ततप आदि ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं फिर भी वे साधु उनसे निस्पृह रहते हैं अतः वे 'तपोधन' इस सार्थक नाम से पुकारे जाते हैं। सम्पूर्ण इच्छाओं का निरोध करके मैं सम्यक् तप को तपकर

ध्यानरूपी अग्नि में कर्म ईंधन को डालकर शुद्ध हो जाऊँगा।।1 से 5।। ऐसी भावना से ही कर्म नष्ट होते हैं।

पद्मपुराण में कहा है—

'सुखासनविहारः सन् सदा कशिपुसक्तधीः।
सिद्धंमन्यो विमूढ़ात्मा जनोऽयं स्वस्य वञ्चकः।।

जो मनुष्य सुखपूर्वक उठता-बैठता और विहार करता है तथा सदा भोजन और वस्त्रों में आसक्त रहता है फिर भी अपने आपको सिद्ध मानता है वह मूर्ख अपने आपकी वंचना करता है।

तीर्थंकरों ने भी पूर्व भव में सिंहनिष्क्रीडित आदि बहुत से व्रत किए हैं आज कल के मुनि भी उपवास आदि तपश्चरण में महान् सिद्ध होते हैं। देखो! चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज ने अपने 35 वर्ष के मुनि जीवन में तमाम व्रत किए हैं जिनके उपवासों के दिनों की संख्या 25 वर्ष छह महीने तक की है और आहार के दिनों की संख्या केवल साढ़े नौ वर्ष की है अन्य-अन्य साधु वर्गों ने भी महीने, पक्ष आदि के उपवास करके अपनी देह से निःस्पृहता का परिचय दिया है।

श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि 'जिससे जीव का उपकार होता है उससे शरीर का अपकार होता है और जिससे शरीर का उपकार होता है उससे जीव का अपकार होता है[2]।- तथा श्री कुंदकुंद देव कहते हैं कि ''जो सुखिया जीवन में तत्त्व की भावना भाते हैं उनका ज्ञान दुःख आने पर नष्ट हो जाता है अतः दुःख को बुलाकर आत्म तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।'' तथा 'तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप अकार्यकारी है अतः ज्ञान और तप से युक्त होकर निर्वाण प्राप्त होता है। देखो तीर्थंकर को निर्वाण जाना निश्चित है, दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान हो जाता है फिर भी वे तप करते हैं, ऐसा जानकर तप करना चाहिए[3]।''

इस कथन से उपवास आदि का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। तपश्चरण के प्रभाव से अनेकों ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। मय विद्याधर (मंदोदरी के पिता) मुनि हो गए। ऋद्धि सहित थे एक समय सिंहेदु राजा अपनी रानी के साथ वन में विचरण कर रहे थे। सर्प के डसने से मूर्छित हो गये। तब रानी ने 'मयमुनि' के शरीर का स्पर्श कर पति को स्पर्श किया, उसी क्षण वे राजा निर्विष हो गये। विशल्या ने पूर्वभव में तप किया था जिसके फलस्वरूप उसके स्नान के जल से

1. पद्मपुराण, पर्व 11, पृ. 247। 2. इष्टोपदेश। 3. मोक्षपाहुड़, गाथा 62, 63, 64।

सर्वरोग और विष नष्ट हो जाते थे। अनंतवीर्य मुनिराज अपने 56 हजार मुनि सहित आकाश मार्ग से लंका में पहुँचे। जिस दिन रावण की मृत्यु हुई थी उसी दिन के अन्तिम प्रहर में वे पहुँचे और रात्रि के पिछले प्रहर में अनंतवीर्य मुनि को केवलज्ञान हो गया। गणधर देव कहते हैं कि—

'रावणे जीवति प्राप्तो यदि स्यात् स महामुनिः।
लक्ष्मणेन समं प्रीतिर्जाता स्यात्तस्य पुष्कला।।'

यदि रावण के जीवित रहते यह महामुनि आ जाते तो लक्ष्मण के साथ रावण की बहुत बड़ी प्रीति हो जाती। क्योंकि ऋद्धिधारी मुनि और केवली जहाँ रहते हैं उनसे दो सौ योजन तक उपद्रव आदि नहीं होता है[1]।'

वास्तव में जो शरीर से आत्मा को भिन्न समझते हैं वे अध्यात्म प्रेमी ही शरीर से निःस्पृह होकर तप कर सकते हैं। भीम मुनि ने भाले के अग्रभाग से आहार लेने का नियम ले लिया, वह छह महीने में मिला तब उनका आहार हुआ। मुनियों के सिवाय श्रावकों-श्राविकाओं ने भी रोहिणी, जिनगुण संपत्ति आदि उपवासों को करके परम्परा से मुक्ति को प्राप्त किया है।

इन तपों में विनय करना, वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना ये अंतरंग तप हैं। अंत में ध्यान तप है उसी के द्वारा ही कर्मों का पूर्णतया नाश किया जाता है। इस प्रकार से इन बारह तपों में से यथाशक्ति तप करते रहना चाहिये। शरीर से निर्मम होने के लिये तप का अभ्यास अतीव उपयोगी है। प्रमाद छोड़कर अभ्यास करने से सर्वकार्य सिद्ध हो जाते हैं अतः तपधर्म हमेशा ग्राह्य है यह भी श्रावक के छह आवश्यकों में एक आवश्यक माना गया है।

बाह्य तप के प्रभाव से भी अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। जैसा कि उदाहरण प्रसिद्ध है—

विदेह क्षेत्र में पुण्डरीक नाम का एक देश है। उसके चक्रधर नामक नगर में त्रिभुवनानन्द नाम का चक्रवर्ती छह खंड पृथ्वी पर एकच्छत्र अनुशासन करता हुआ स्थित था। उसकी अनंगशरा नाम की एक कन्या थी जो कि सर्व गुणों से मंडित और सौंदर्य की एक अपूर्व सृष्टि थी। चक्रवर्ती का एक पुनर्वसु नाम का सामन्त था जो कि प्रतिष्ठपुर नगर का स्वामी था। उस कन्या के सौंदर्य पर आसक्त हो उसने किसी समय उसका अपहरण कर लिया और विमान पर बिठाकर आकाश मार्ग से भागा। क्रोध से भरे चक्रवर्ती की आज्ञा पाकर सेवकों

1. पद्मपुराण पु., तृ. पृ. 80।

ने उसका पीछा किया और युद्ध कर उसके विमान को चूर-चूर कर डाला। तब पुनर्वसु ने पर्ण लघ्वी विद्या के सहारे उस कन्या को विमान से नीचे छोड़ दिया। वह कन्या उस विद्या के सहारे धीरे से श्वापद नामक महाअटवी में आ गिरी।

वह महावन ऐसा था जो बड़े-बडे विद्याधरों को भी भय उत्पन्न करने वाला था। जिसके अन्दर प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था, जहाँ पर बड़े-बड़े वृक्षों की सघन झाड़ियों से अंधकार ही अंधकार बना रहता था अतः सूर्य की किरणें जहाँ पर अवकाश नहीं पा सकती थीं। उस सघन वन में भेड़िये, शरभ, चीते, तेंदुए और सिंह आदि क्रूर जन्तु ही अपना निवास स्थान बनाए हुए थे। वहाँ की भूमि कठोर थी और कहीं अतीव ऊँची थी तो कहीं अतीव नीची थी। जिधर देखो उधर ही बड़े-बड़े बिल दिखाई देते थे जिनमें से निकल-निकल कर बड़े-बड़े सर्प फण उठाए घूम रहे थे। उस वन में अनंगशरा बालिका चारों तरफ दृष्टि डालते हुए महाभय से आक्रांत हो मूर्च्छित हो गई। जब होश आया भय से काँपती हुई जोर-जोर से दहाड़ मार-मार कर रोने लगी। वह कन्या विलाप कर रही है—

हाय! मैं लोक की रक्षा करने वाले इन्द्र के समान सुशोभित त्रिभुवनानंद नाम के चक्रवर्ती पिता से उत्पन्न हुई हूँ और महास्नेह से लालित हुई हूँ फिर भी आज भाग्य की प्रतिकूलता से इस महाकष्ट की अवस्था को प्राप्त हो रही हूँ। हाय, पिता, तुम तो महापराक्रमी हो षट्खंड स्वरूप इस लोक की पूर्णतया रक्षा करते हो, फिर वन में असहाय पड़ी हुई मुझ पर दया क्यों नहीं करते? हाय माता! गर्भ में धारण कर वैसा दुःख सहकर इस समय तुम मुझ पर दया क्यों नहीं करती हो ? हाय! मेरे भाई-बंधु आदि परिजन तुमने मुझे एक क्षण के लिये भी अकेली नहीं छोड़ा था पुनः आज मेरी सुध क्यों नहीं ले रहे हो? हाय, हाय, मैं दुखिया इस समय क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसका आश्रय लूँ? किसे देखूँ? और इस महावन में पापिनी कैसे रहूँ? क्या यह स्वप्न है अथवा नरक में मेरा जन्म हो गया है? क्या मैं वही हूँ अथवा यह कौन सी दशा प्रकट हुई है?

इस प्रकार चिरकाल तक विलाप कर वह अत्यन्त विह्वल हो गई। उसका वह विलाप क्रूर पशुओं के भी मन को द्रवित करने वाला था। जब वह भूख की बाधा से व्याकुल होती थी तब वन के फल-पत्तों को खाकर नदी अथवा झरने का पानी पीकर कुछ शांत हो जाती थी। पुनः कुटुम्बी जनों की याद कर-कर के रोने लगती थी और कभी-कभी महामंत्र का स्मरण करते हुए धैर्य धारण करती थी। उसका सारा शरीर शोकरूपी अग्नि से झुलस गया था। कभी रो-

रोकर पागल जैसी हो जाती थी, कभी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर जाती थी, कभी उठकर इधर-उधर चलने लगती थी और जंगल से निकलने का मार्ग ढूँढने लगती थी। उस भयावह जंगल में मार्ग न प्राप्त कर पुनः निराश हो धरती माता की गोद में सो जाती थी। शीतकाल की बर्फ से, कुहरे से, बरसात से उसका शरीर नष्टप्राय हो गया था किन्तु फिर भी उसका मरण नहीं हो रहा था, न ही कोई जंगली प्राणी ही उसका भक्षण करते थे। ग्रीष्म ऋतु की भयंकर गर्मी से वह झुलसने लगती थी और सोचती थी कि क्या यह ही नरक स्थान है? वर्षा ऋतु की मूसलाधार बारिश भी वह अपने खुले शरीर पर ही झेलती थी। उसके पहने हुये वस्त्र गलकर समाप्त हो चुके थे अतः वन के पत्तों से ही वह अपने शरीर को ढकने का प्रयत्न करती रहती थी। हाय! मैं चक्रवर्ती से उत्पन्न होकर भी इस निर्जन वन में ऐसी दुरावस्था को प्राप्त हो रही हूँ। सो निश्चित ही मैंने जन्मांतर में घोर पाप संचित किया होगा, उसी का यह फल आज मुझे भोगने को मिल रहा है। इस प्रकार अविरल अश्रु वर्षा से जिसका मुख दुर्दिन के समान हो गया था। ऐसी वह अनंगशरा नीची दृष्टि से पृथ्वी की ओर देखकर स्वयं पक कर गिरे हुए ऐसे फलों को उठाकर खाकर शांत हो जाती थी। कभी वह बेला करती थी, कभी तेला करती और कभी अनेकों उपवास कर लेती थी पुनः उपवास से अत्यन्त कृश हो जाने के बाद कभी वह केवल पानी से पारणा करती थी सो भी एक ही बार और कभी कुछ फल खाकर संतुष्ट होती थी।

जो अनंगशरा पहले अपने केशों से च्युत हो शैय्या पर पड़े हुये फूलों से भी खेद को प्राप्त होती थी वह इस वन में मात्र उबड़-खाबड़ कंकरीली पृथ्वी पर ही अनेकों रात्रियाँ निकाल चुकी है। जो पहले पिता के संगीत को सुनकर जागती थी, वह यहाँ पर सियार आदि के भयंकर शब्दों को सुनकर जागती है। इस प्रकार से सर्दी, गर्मी और बरसात के दुःखों को अपने शरीर पर झेलती हुई तथा अनेकों उपवास कर-करके प्रासुक आहार से पारणा करती हुई उस कन्या ने तीन हजार वर्ष तक महान उग्र घोरातिघोर बाह्य तप किया। इतने दिनों तक उस वन में उसे मनुष्य का दर्शन तो क्या, शब्द भी सुनने को नहीं मिला। शरीर भी उसका तपश्चरण से और कष्ट के झेलने से अब शुष्क हो चुका था। तब जीवन से निराश हो उस धीर-वीर बाला ने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर सल्लेखना धारण कर ली। उसने जिन शासन में पहले जैसा सुन रखा था वैसा नियम ग्रहण कर लिया कि मैं अब सौ हाथ से बाहर की भूमि में नहीं जाऊँगी।

उसे सल्लेखना का नियम लेकर जब छह दिन व्यतीत हो गये तब लब्धिदास नामक एक पुरुष जो कि मेरु पर्वत की वंदना कर लौट रहा था सो उसने उस कन्या को देखा। वह उसे उसके पिता के पास ले जाने के लिये तैयार हुआ तब कन्या ने यह कहकर मना कर दिया कि मैंने अब यम सल्लेखना ग्रहण कर ली है। लब्धिदास ने शीघ्र ही चक्रवर्ती त्रिभुवनानंद के पास पहुँचकर कन्या का समाचार सुना दिया। कन्या के अपहरण के बाद चक्रवर्ती ने सर्वत्र अपने लोगों को भेज-भेजकर उसका पता लगवाया था किन्तु कोई भी उसे ढूँढ नहीं सके थे। इसी कन्या के शोक में चक्रवर्ती भी अपनी विशाल सम्पत्ति को तुच्छ समझते थे। उसकी माता भी रो-रोकर अपने शरीर को दुर्बल कर चुकी थी। उस समय चक्रवर्ती तमाम परिजन को लेकर अति शीघ्र ही वहाँ पहुँचे। वह वहाँ देखते हैं कि अत्यन्त भयंकर एक मोटा अजगर उस बाला को खा रहा था। यह देख उस कन्या को छुड़ाने में तत्पर हो चक्रवर्ती ने उस अजगर को अलग करना चाहा कि कन्या ने तत्क्षण ही रोक दिया। उस स्थूल अजगर के द्वारा खाई गई वह कन्या महामंत्र का स्मरण करते हुये धैर्यपूर्वक शरीर छोड़कर ईशान स्वर्ग में देवी हो गई।

इस घटना से चक्रवर्ती त्रिभुवनानंद को महान वैराग्य उत्पन्न हो गया। उस समय उन्होंने अपने बाईस हजार पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली।

अनंगशरा कन्या स्वर्ग के सुखों का अनुभव करके राजा द्रोणमेघ की रानी के गर्भ में आ गई। उस समय रानी अनेकों रोगों से पीड़ित थी, कन्या के गर्भ में आते ही माता पूर्णतया नीरोग हो गई।

किसी समय विंध्य नाम का व्यापारी ऊँट, गधे तथा भैंसे आदि जानवरों पर सामान लाद कर अयोध्या में आया और वहाँ ग्यारह माह तक रहा। उनमें से एक भैंसा तीव्र रोग से पीड़ित हो नगर के बीच में गिर पड़ा। कितने ही दिनों तक पड़ा रहा। लोग उसे ठुकरा कर चलते थे कभी कोई उसके मस्तक पर पैर रख-रखकर चले जाते थे। वेदना से और भूख-प्यास से पीड़ित होकर भी शांतभाव धारण करते हुये उसने प्राण छोड़ा। तब अकाम निर्जरा के प्रभाव से वह वायवावर्त नाम का धारक वायु कुमार जाति के देवों का स्वामी हो गया। अवधिज्ञान के निमित्त से उसने पूर्वभव के पराभाव को जान लिया। तब उसने अयोध्या में आकर महारोग उत्पन्न करने वाली बहुत ही भयंकर विषम वायु चला दी, जिससे अयोध्या में भयंकर रोगों का प्रकोप फैल गया। महादाहज्वर,

सर्वशूल रोग, अरुचि वमन, फोड़े, सूजन आदि अनेकों रोगों से शहर में त्राहि-त्राहि मच गई। जब भरत महाराज ने सुना कि हमारे शहर में क्या सारे देश में कोई भी निरोग नहीं बचा है। मात्र एक द्रोणमेघ नाम का राजा है जो कि अपने मंत्री, परिवार आदि के साथ-साथ पूर्ण स्वस्थ रह रहे हैं। भरत महाराज ने उन्हें बुलाकर कहा कि हे महानुभाव! आप जैसे स्वस्थ हैं वैसे ही हम लोगों को स्वस्थ करना उचित है। तब राजा द्रोणमेघ ने अपने अन्तःपुर से सुगन्धित जल मंगवाकर उन सभी पर सिंचित किया जिससे सभी का रोग शांत हो गया। तब भरत राजा के कहने से द्रोणमेघ ने सारे अयोध्या निवासियों को निरोग कर दिया।

उस प्रसंग में भरत महाराज ने प्रश्न किया कि यह महिमाशाली सुगन्धित श्री जल आपने कैसे प्राप्त किया है? द्रोणमेघ ने कहा—हे देव! मेरी कन्या विशल्या है, यह उसी पुण्यशालिनी के स्नान का जल है जो कि सर्व रोगों का नाशक सिद्ध हो चुका है और उस जल के द्वारा अब तक अगणित जीवों ने जीवन लाभ प्राप्त किया है।

किसी समय देवगीतपुर के विद्याधर चन्द्रप्रतिम आकाश मार्ग में विचरण कर रहे थे। उसी समय उनका शत्रु सहस्रविजय कुछ पुराने वैर को याद कर क्रोध को प्राप्त हो उसके साथ युद्ध करने लगा। उस युद्ध में चंडरवा नाम की शक्ति (देवोपनीत अस्त्र) से उसे मारा जिससे वह मरणासन्न होकर रात्रि के समय आकाश से गिरा, जहाँ पर वह गिरा वह अयोध्या का महेन्द्रोदय नामक उद्यान था। आकाश से पड़ते हुये ताराबिंब के समान उसे देखकर राजा भरत तर्क करते हुये उसके पास पहुँचे और शक्ति से शल्ययुक्त वक्षस्थल को देखकर दया से आर्द्र हो उठे। उन्होंने तत्क्षण ही जीवनदान देने वाले जल को मँगाकर उस चन्द्रप्रतिम विद्याधर को स्वस्थ कर दिया।

जब राम-रावण के युद्ध में रावण ने लक्ष्मण को अमोघविजया नामक शक्ति से घायल कर दिया था और उनके जीवन में संशय उपस्थित हो गया था, उस समय यह चंदप्रतिम विद्याधर वहाँ पहुँच कर इस विशल्या के स्नान जल के महत्त्व को बतला कर रामचन्द्र को आशवस्त करता है। तब रामचन्द्र शीघ्र ही रात्रि में ही भामंडल, हनुमान आदि को अयोध्या नगरी में भरत के पास उसी सुगन्धित जल हेतु भेज देते हैं। भरत राजा सर्व समाचार विदित कर अपने अग्रज के जीवन हेतु उपाय में सन्नद्ध हो द्रोणमेघ के पास पहुँचते हैं तब वे द्रोणमेघ अपनी विशल्या कन्या को ही भामंडल आदि के साथ वहाँ भेज देते हैं। विशल्या

के निकट पहुँचते ही लक्ष्मण के वक्षस्थल से शक्ति नामक अस्त्र निकल जाता है और वे स्वस्थ हो जाते हैं। यह है बाह्य तप का अद्‌भुत चमत्कार।

जिस समय वह अमोघ शक्ति नाम की विद्या लक्ष्मण के वक्षस्थल से निकलकर आकाश मार्ग से जाने लगी, हनुमान ने उसे पकड़ लिया तब वह देवी के रूप में प्रकट हो बोली, हे हनुमान! मैं तीनों लोकों में प्रसिद्ध अमोघविजया नाम की विद्या हूँ। इस समय इस संसार में इस विशल्या के सिवाय मैं किसी से पराजित नहीं की जा सकती थी। पूर्वभव में इसने अपना शिरीष के फूल के समान सुकुमार शरीर ऐसे तप में लगाया था कि जो प्रायः मुनियों के लिए भी कठिन था। सचमुच में इसीलिए यह मानव जीवन सारभूत है कि जहाँ पर ऐसे-ऐसे कठिन तप किये जा सकते हैं।

जाप्य—**ॐ ह्रीं उत्तमतपोधर्माङ्गाय नमः।**

उत्तम तप

उत्तम तप द्वादश विध माना, बाह्याभ्यंतर के भेदों से।
अनशन ऊनोदर वृत्तपरीसंख्या[1], रस त्याग प्रभेदों से।।
एकान्त शयन आसन करना, तनु क्लेश यथाशक्ति तप है।
तपने से स्वर्ण शुद्ध होता, आत्मा भी तप से शुद्धि लहे।।1।।

प्रायश्चित विनय सुवैयावृत, स्वाध्याय उपाधि का त्याग कहे।
शुचि ध्यान छहों अन्तर तप ये, इनसे ही कर्म कलंक दहे।।
आगम विधि से सम्यक् तप ये, आत्मा की पूर्ण शुद्धि करते।
जो तप से मन को कृश करते, वे आत्मबली सिद्धि वरते।।2।।

व्रत कर्म दहन चारित्र शुद्धि, जिनगुण संपति कहे उत्तम।
कनकावली रत्नावली आदिक, सर्वतोभद्र जग में उत्तम।।
व्रत श्रेष्ठ सिंहनिष्क्रीड़ितादि, नन्दन मुनि ने भी व्रत पाला।
सोलहकारण भावित करके, महावीर बने सब अघ टाला।।3।।

'मय' मुनि को कर स्पर्श सती, सिंहेंदु का स्पर्श किया।
पति भी निर्विष हो खड़ा हुआ, मय मुनि की पूजा भक्ति किया।।
तप बल से ऋद्धि तभी प्रगटें, भविजन के बहुविध त्रास हरें।
ऋषि स्वयं तपोधन होकर भी, निस्पृह हो निज सुख चाह करें।।4।।

सब इच्छाओं का रोध करूँ, बस स्वात्म सुखामृत को चाहूँ।
निज आत्मा में ही लीन हुआ, निश्चय सम्यक्तप को पाऊँ।।
बहिरंतर तप तपते तपते, मैं स्वयं तपोधन बन जाऊँ।
अपने में ही रमते-रमते, मैं स्वयं स्वयंभू बन जाऊँ।।5।।

1. व्रतपरिसंख्यान।

उत्तम त्याग धर्म

चाउ वि धम्मंगउ तं जि अभंगउ णियसत्तिए भत्तिए जणहु।
पत्तहं सुपवित्तहं तव-गुण-जुतहं परगइ-संबलु तुं मुणहु।।
चाए अवगुण-गुण जि उहट्टइ, चाए णिम्मल-कित्ति पवट्टइ।
चाए वयरिय पणमइ पाए, चाए भोगभूमि सुह जाए।।
चाए विहिज्जइ णिच्च जि विणए, सुहवयणइं भासेप्पिणु पणए।
अभयदाणु दिज्जइ पहिलारउ, जिमि णासइ परभव दुहयारउ।।
सत्थदाणु बीजउ पुण किज्जइ, णिम्मल, णाणु जेण पाविज्जइ।
ओसहु दिज्जइ रोय-विणासणु, कह वि ण पेच्छइ वाहि-पयासणु।।
आहारे धण-रिद्धि पवट्टइ, चउविहु चाउ जि एहु पवट्टइ।
अहवा दुट्ठ-वियप्पहुं चाएं, चाउ जि एहु मुणहु समवाएं।।

—घत्ता—

दुहियहं दिज्जइ दाणु किज्जइ माणु जि गुणियणहं।
दय भावियइ अभंग दंसणु चिंतिज्जइ मणहं।।

अर्थ—त्याग भी धर्म का अंग है, वह भंग रहित है, तप गुण से युक्त, अत्यन्त पवित्र पात्र के लिए अपनी शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक त्यागदान देना चाहिए, क्योंकि वह पात्र अन्य गति के लिये पाथेय के समान है ऐसा समझो।

त्याग-दान से अवगुणों का समूह दूर हो जाता है, त्याग से निर्मल कीर्ति फैलती है, त्याग से बैरी भी चरणों में प्रणाम करता है और त्याग से भोगभूमि के सुख मिलते हैं।

विनयपूर्वक बड़े प्रेम से शुभवचन बोलकर नित्य ही त्याग-दान देना चाहिए। सर्वप्रथम अभय दान देना चाहिए जिससे परभव के दुःखों का नाश हो जाता है। पुनः दूसरा शास्त्र दान करना चाहिए, जिससे निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। रोग को नष्ट करने वाला औषधि दान देना चाहिए, जिससे कभी भी व्याधियों की प्रगटता नहीं होती है।

आहार दान से धन और ऋद्धियों की प्राप्ति होती है, यह चार प्रकार का त्याग-दान सनातन परम्परा से चला आ रहा है अथवा दुष्ट विकल्पों के त्याग करने से त्याग धर्म होता है। समुच्चयरूप से इसे त्याग धर्म मानो।

दुःखी जनों का दान देना चाहिए, गुणी जनों का मान-सम्मान करना

चाहिए, भंगरहित एकमात्र दया की भावना करनी चाहिए और मन में सतत सम्यग्दर्शन का चिंतवन करना चाहिए।

रत्नत्रय दानं स प्रासुक त्याग उच्यते।
चतुर्धा दानमप्यार्षात् त्रिधा पात्राय दीयते।।1।।

वज्रजंघो नृपो राज्ञया श्रीमत्या सह कानने।
भुक्तिं ददौ मुनिभ्यां स तीर्थेशो वृषभोऽभवत्।।2।।

भूत्वा श्रीमत्यपि श्रेयान् दानतीर्थ प्रवर्तकः।
श्रीकृष्ण औषधेर्दानात् पुण्यभाक् भावितीर्थकृत्।।3।।

सच्छास्त्रदानतो गोपः कौंडेशः श्रुतपारगः।
वसते र्दानमाहात्म्यात् घृष्टिः स्वर्गतिमाप्तवान्।।4।।

रत्नत्रयमहं दत्वा स्वस्मै सर्वगुणात्मकं।
स्वात्मतत्त्वं लभेयाशु स्वस्मिन्नेव लयं पुनः।।5।।

'संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः।' संयत के योग्य आदि को देना त्याग है।

'रत्नत्रय का दान देना वह प्रासुक त्याग कहलाता है और तीन प्रकार के पात्रों के लिये चार प्रकार का दान देना भी त्याग है' ऐसा आर्ष में कहा है। राजा वज्रजंघ ने रानी श्रीमती के साथ वन में युगल मुनि को आहार दान दिया था जिसके फलस्वरूप वे वृषभ तीर्थंकर हुये हैं तथा उनकी रानी श्रीमती भी उसी के प्रभाव से आगे राजा श्रेयांस होकर दान तीर्थ के प्रवर्तक हुये हैं। श्री कृष्ण ने एक मुनि को औषधिदान दिया था जिससे वे भविष्य में पुण्य के स्थान ऐसे तीर्थंकर होवेंगे। सच्चे शास्त्र के दान से एक ग्वाला अगले भव में कौंडेश मुनि होकर महान् श्रुतज्ञानी हुआ। वसतिका के दान के प्रभाव से सूकर ने स्वर्ग को प्राप्त कर लिया। मैं भी रत्नत्रय का दान अपने को देकर सर्वगुणों से परिपूर्ण स्वात्म तत्त्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेऊँ और उसी में लीन हो जाऊँ।।1 से 5।। ऐसी भावना प्रत्येक व्यक्ति को भाते रहना चाहिये।

धवला में कहा है कि 'दया बुद्धि से जो साधु रत्नत्रय का दान देते हैं वही प्रासुकपरित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में संभव नहीं है चूँकि वे रत्नत्रय के उपदेश के अधिकारी नहीं हैं[1]।' अन्यत्र ग्रन्थों में इस त्याग के चार भेद किये हैं।

1. धवला पु. 8, पृ. 87।

आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। वज्रजघ राजा ने वन में आहार दिया। देखने वाले मंत्री आदि चार जन एवं व्याघ्र, नेवला, बंदर तथा सूकर इन आठों ने मात्र अनुमोदना से कैसा पुण्य प्राप्त किया है। देखिये—

जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा लेकर छह महीने का योग धारण कर लिया था। जब छह महीने पूर्ण हो गये, तब वे प्रभु मुनियों की चर्याविधि बतलाने के लिए आहारार्थ निकले। यद्यपि भगवान् को आहार की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी वे मोक्षमार्ग को प्रगट करने के लिए पृथ्वी तल पर विचरण करने लगे।

उस समय लोग दिगम्बर मुनियों के आहार की विधि को नहीं जानते थे, अतः कोई-कोई भगवान् के पास आकर उन्हें प्रणाम करते और उनके पीछे-पीछे चलने लगते, कोई बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान् के सामने रखते और ग्रहण करने की प्रार्थना करते कि हे देव! प्रसन्न होइये और स्नान करके भोजन कीजिए, कोई हाथी, घोड़ा, पालकी आदि वाहन लेकर आते और भेंट करते, कितने ही लोग रूप-यौवन सम्पन्न कन्याओं को लाते और कहते कि प्रभो ! आप इन्हें स्वीकार कीजिए। आचार्य कहते हैं कि लोगों की मूर्ख चेष्टा को धिक्कार हो! जो ऐसी-ऐसी चेष्टा कर रहे थे। इस प्रकार जगत् में आश्चर्यकारी, गूढ़चर्या से भ्रमण करते हुए भगवान् के छह मास और व्यतीत हो गये।

अनन्तर भगवान् वृषभदेव हस्तिनापुर पधारे। उस समय वहाँ के राजा सोमप्रभ कुरूवंश के शिखामणि थे और उनके भाई श्रेयांस कुमार थे। श्रेयांस कुमार ने उसी रात्रि के पिछले प्रहर में सुमेरु पर्वत, कल्पवृक्ष, सिंह-बैल, सूर्य, चन्द्र, समुद्र और व्यन्तर देवों की मूर्ति, ऐसे सात स्वप्न देखे थे। प्रातः पुरोहित ने इन स्वप्नों का फल यही बतलाया था कि जिनका सुमेरु पर्वत पर अभिषेक हुआ है, ऐसे कोई देव आज आपके घर पर आएंगे। उसी समय नगर में भगवान् के दर्शनों के लिए दौड़ते हुए जनों से बहुत बड़ा कोलाहल व्याप्त हो गया। इधर सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने प्रभु के आगमन की सूचना दी। दोनों भाई उठ खड़े हुए और बाहर आये। भगवान् को देखते ही गद्गद हो उन्हें नमस्कार किया और उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। तत्क्षण ही राजा श्रेयांस को अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया, तब आहार दान देने की सारी विधि याद आ गई। जब वज्रजंघ और श्रीमती ने वन में चारण मुनि को आहार दान दिया था उस समय का दृश्य ज्यों का त्यों उपस्थित हो गया। राजा वज्रजंघ का जीव ही भगवान् वृषभदेव हुए हैं और रानी श्रीमती का जीव ही राजा श्रेयांस हुए हैं।

उस समय राजा श्रेयांस कुमार ने अपने बड़े भाई सोमप्रभ और भाभी लक्ष्मीमती के साथ बड़ी ही भक्ति से प्रभु का पड़गाहन करके अन्दर लाकर नवधा भक्तिपूर्वक उनके हाथों की अँजुली में शुद्ध प्रासुक इक्षु रस का आहार दिया। उसी समय आकाश में देवों का समुदाय उमड़ पड़ा।

रत्नों की वर्षा, पुष्पों की वर्षा, मन्द सुगन्धित वायु, दुन्दुभी बाजे और जय-जयकार के नाद से आकाश तथा भूमण्डल व्याप्त हो गया। उस समय दोनों भाइयों ने अपने आपको कृतकृत्य माना। जहाँ स्वयं तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव आहार लेने वाले हैं और श्रेयांस कुमार जैसे पुण्यशाली दाता देने वाले हैं, देवों के द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि की जा रही हो, उस समय के आहार दान का महत्त्व कौन कहा सकता है ? भगवान् आहार के अनंतर वन को विहार कर गये। राजा सोमप्रभ और श्रेयांस भी कुछ दूर तक प्रभु के पीछे-पीछे गये पुनः नमस्कार करके वापस आ गये।

उस दिन राजा के यहाँ भोजन अक्षय हो गया था, चाहे चक्रवर्ती का कटक भी जीम ले तो भी उसका क्षय नहीं हो सकता था। वह दिन वैशाख सुदी तृतीया का दिन था। इसलिए तब से लेकर आज तक भी वह दिन पवित्र 'अक्षय तृतीया' के नाम से पृथ्वी तल पर सर्वत्र विख्यात है और महान् पर्व के रूप में मनाया जाता है। उस समय राजा श्रेयांस "दान तीर्थ के प्रवर्तक" कहलाये थे।

देवों ने भी आश्चर्य के साथ श्रेयांस कुमार की बड़ी भारी पूजा की थी तथा भरत चक्रवर्ती ने आकर हर्ष से गद्गद हो पूछा था कि हे कुरूवंश शिखामणे! तुमने यह आहार दान की विधि कैसे जानी ? तब राजा श्रेयांस ने अपनी जातिस्मरण की बात कहना शुरू की।

हे भरत सम्राट! इस भव से आठवें भव पूर्व की बात है। जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह के पुष्कलावती देश में एक उत्पलखेट नाम का नगर है, उसके राजा वज्रजंघ अपनी श्रीमती रानी के साथ ससुराल जाते समय मार्ग में वन में पड़ाव डालकर ठहर गये। उस समय अकस्मात् चारण ऋद्धि के धारक दो मुनिराज वहाँ आहार हेतु आ गये। उनका वन में ही आहार ग्रहण करने का वृत्तपरिसंख्यान व्रत था। राजा ने उन्हें देखते ही अत्यर्थ आदर के साथ रानी श्रीमती सहित खड़े होकर उनका पड़गाहन किया, पुनः उन्हें ऊँचे आसन पर बिठाया, उनके चरण कमलों का प्रक्षालन किया, पूजा की, नमस्कार किया और मन-वचन-काय तथा आहार को शुद्ध निवेदन करके श्रद्धा आदि गुणों से समन्वित राजा ने रानी सहित उन दोनों मुनियों को विधि पूर्वक आहार

दिया। उस समय देवों ने विभोर होकर रत्नों को वर्षाया और पुष्पों की वर्षा करने लगे। सुगन्धित मन्द पवन चलाई, दुंदुभि बाजे बजाये और अहो दानं, अहो दानं" ऐसी प्रशंसात्मक ध्वनि करने लगे। अनन्तर आहार के पश्चात् राजा ने पुनः उनकी पूजा और वन्दना की।

अनन्तर कंचुकी के द्वारा राजा को पता चला कि ये दोनों महामुनि आपके ही अन्तिम युगलिया पुत्र हैं, इनके दमधर और सागरसेन ये नाम हैं, मतलब रानी श्रीमती के अठानवें पुत्र हुए थे। उन सभी ने अपने बाबा के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ले ली थी। उन्हीं में से ये अन्तिम हैं। इतना सुनते ही राजा को अतिशय प्रेम उमड़ पड़ा। भक्ति में विभोर हो राजा ने उनके चरण सान्निध्य में बैठकर अपने व श्रीमती के पूर्वभव पूछे। पुनः पूछने लगे कि—हे भगवन् ये हमारे मन्त्री, सेनापति, पुरोहित और सेठ जी अतिशय भक्ति से आपका आहार देख रहे थे, इन पर मुझे अत्यधिक स्नेह है एवं ये जो सिंह, सूकर, नकुल और बन्दर बड़ी ही उत्कण्ठा से शांत चित्त हो आपका आहार देख रहे थे, ये भी कोई भव्य जीव हैं। कृपया इन सबके पूर्वभवों को भी बतलाकर सभी को कृतार्थ कीजिए। तब गुरुदेव ने क्रम-क्रम से सभी के भव-भावान्तर सुना दिये। अनन्तर राजा ने पुनः निवदेन किया कि आगे हम लोगों के अभी संसार में कितने भव और शेष हैं ? मुनिराज ने कहा—

राजन् ! आप सभी निकट भव्य हैं, आप तो इससे आठवें भव में युग के आदि विधाता तीर्थंकर वृषभदेव होवेंगे। धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति चलाएंगे। माता श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस कुमार दानतीर्थ का प्रवर्तक होगा। आपके ये मतिवर मन्त्री उस भव में आपके प्रथम पुत्र सम्राट् भरत चक्रवर्ती होवेंगे कि जिसके नाम से यह देश 'भारत' इस सार्थक नाम से सनाथ होगा। ये आनन्द पुरोहित बाहुबली नाम के कामदेव पदवीधारी महापराक्रमी पुत्र होवेंगे। सेनापति का जीव वृषभसेन होगा जो आपका प्रथम गणधर होवेगा। ये धनमित्र सेठ अनन्त विजय नाम के पुत्र होंगे तथा ये सिंह, सूकर, बन्दर और नकुल के जीव भी अभी दान की अनुमोदना के प्रभाव से अतिशय पुण्य संचित कर चुके हैं। ये मरकर उत्तम भोगभूमि में मनुष्य होकर पुनः कालान्तर में आपकी वृषभदेव पर्याय में आपके ही अनन्तवीर्य, अच्युत, वीर और सुवीर नाम के पुत्र होंगे। अर्थात् ये आठों जीव आपके ही साथ उत्तम देव व मनुष्य के सुखों को भोग कर पुनः तीर्थंकर पर्याय में आपके ही पुत्र होकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार से राजा श्रेयांस के मुख से सर्व अतीत वृतांत सुनकर भरत चक्रवर्ती अत्यर्थ प्रमोद को प्राप्त हुए और बहुत से रत्नों-आभूषणों द्वारा उनका आदर सम्मान करके तथा उन्हें दानतीर्थ प्रवर्तक उपाधि से विभूषित करके वे अपनी अयोध्या में वापस आ गये।

एक बार के आहार दान के प्रभाव से उन युगल दम्पत्ति राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती ने कितना उत्कृष्ट फल प्राप्त किया तथा उस दान को देखकर मात्र अनुमोदना करने वाले उन मन्त्री, सेनापति, पुरोहित और सेठ ने तथा चारों पशुओं ने उन्हीं के सदृश कैसा महान् अचिन्त्य फल प्राप्त कर लिया। अहो ! दान की महिमा अचिन्त्य ही है। आज के युग में भी जो अपने को महामुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि साधुवर्ग दिखते हैं उनके प्रति असीम भक्ति रखकर पूजा, दान, भक्ति आदि करके अपने मनुष्य जीवन को सफल कर लेना चाहिए। कहा भी है—

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनां[1]।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति।।

अर्थ—भोजन मात्र प्रदान करने के लिए तपस्वियों की क्या परीक्षा करना! वे सद्गुणों से युक्त सज्जन हों या न हों किन्तु गृहस्थ तो दान से शुद्ध हो ही जावेगा।

गुरुओं की भक्ति दानादि का क्या फल है सो देखिये—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।।[2]

अर्थ—साधुओं को नमस्कार करने से उच्च गोत्र प्राप्त होता है उनको दान देने से भोग मिलते हैं। उनकी उपासना से पूजा प्राप्त होती है, सम्मान होता है, उनकी भक्ति से सुन्दर रूप और उनकी स्तुति करने से कीर्ति होती है।

ऐसे ही अनेकों उदाहरण हैं—

विश्वभूति ब्राह्मण ने मुनिराज को सत्तू के लड्डू का आहार दिया जिसके फल से उसने देवों द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि को प्राप्त कर लिया। किसी समय श्रीकृष्ण ने एक मुनि के शरीर में कुछ रोग देखा, वैद्य को दिखाकर उसके औषधि का निर्णय करके औषधि मिश्रित लड्डू बनवाए और अन्यत्र सूचना करा दी कि राजमहल के सिवाय उन्हें कोई न पड़गाहे। मुनि को औषधि मिल जाने से उनका

1. श्री सोमदेव सूरि। 2. श्री समन्तभद्र स्वामी।

रोग ठीक हो गया। उस समय उन्होंने महान् पुण्य का संचय कर लिया। कुरमरी गाँव में एक गोविन्द नाम का ग्वाला रहता था। उसे वृक्ष की कोटर से एक ग्रंथ मिल गया। उसने उस ग्रंथ को लाकर बहुत दिनों तक उसकी पूजा की, पुनः पद्मनंदि नामक मुनि को वह ग्रंथ दे दिया। उस दान के प्रभाव से मर कर वह चौधरी का पुत्र हुआ। जिन मुनिराज को उसने पुस्तक दान दी थी उनके दर्शन करते ही उसे जातिस्मरण हो गया। उसने दीक्षा लेकर अन्त में शांति से मृत्यु लाभ कर कौंडेश नाम का राजा हो गया। किसी समय दीक्षित होकर सम्पूर्ण द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त कर श्रुतकेवली हो गया। सच है ज्ञानदान का फल तो केवलज्ञान ही है।

घटगाँव नाम के शहर में एक देविल नाम का कुंभार और एक धर्मिल नाम का नाई रहता था। दोनों ने मिलकर एक धर्मशाला बनावाई। देविल ने मुनि को ठहरा दिया तब धर्मिल ने उन्हें निकाल कर एक सन्यासी को ठहरा दिया। देविल को ऐसा मालूम होने से वे दोनों आपस में लड़ मरे और क्रम से सूकर और व्याघ्र हो गये। एक दिन कर्मयोग से गुप्त और त्रिगुप्तिगुप्त ऐसे दो मुनिराज वन की गुफा में ठहर गये। सूकर को जातिस्मरण हो जाने से वह उनके पास आया और शांत भाव से उपदेश सुनकर कुछ व्रत ग्रहण कर लिये। इसी समय वह व्याघ्र वहाँ आया और मुनियों को खाने के लिये गुफा में घुसने लगा। सूकर ने उसका सामना किया अन्त में दोनों लहूलुहान होकर मर गये। सूकर के भाव मुनि रक्षा के थे और व्याघ्र के भाव भक्षण के थे। अतः सूकर सौधर्म स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों सहित देव हो गया और व्याघ्र मरकर नरक चला गया। इस प्रकार से अभयदान का फल सूकर ने प्राप्त कर लिया।

दान से ही संसार में गौरव प्राप्त होता है। देखो ! देने वाले मेघ ऊपर रहते हैं और संग्रह करने वाले समुद्र नीचे रहते हैं। बड़े कष्ट से कमाई गई सम्पत्ति को यदि आप अपने साथ ले जाना चाहते हैं तो खूब दान दीजिये। यह असंख्य गुणा होकर फलेगी किन्तु खाई गई अथवा गाड़कर रखी गई सम्पत्ति व्यर्थ ही है। परोपकार में खर्चा गया धन ही परलोक में नवनिधि ऋद्धि के रूप में फलता है।

उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा से पात्र के तीन भेद हैं। उत्तम पात्र मुनि हैं, मध्यम पात्र देशव्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं। उत्तम पात्र में दिया गया दान उत्तम भोगभूमि को, मध्यम पात्र में दिया गया दान मध्यम भोगभूमि को और जघन्य पात्र में दिया गया दान जघन्य

भोगभूमि को प्राप्त कराता है। कुपात्र (मिथ्यादृष्टि) को दिया गया दान कुभोगभूमि को देता है और अपात्र में दिया दान व्यर्थ चला जाता है। जो सम्यग्दृष्टि उपर्युक्त तीन प्रकार के पात्रों को दान देते हैं वे नियम से स्वर्ग को अथवा मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

दीन, दुःखी, अंधे, लंगड़े आदि को भोजन, वस्त्र आदि देना करुणादान है। यह भी करुणा बुद्धि से करना ही चाहिये।

इस प्रकार से त्यागधर्म के महत्व को समझ कर यथाशक्ति दान देना चाहिये।

देयात् स्तोकमपि स्तोकं न व्यपेक्षा महोदये।
इच्छानुसारिणी शक्तिः कदा कस्य भविष्यति।।

थोड़े में थोड़ा तथा उसमें भी थोड़ा-थोड़ा देते ही रहना चाहिये। बहुत धन होगा जब दान देंगे, ऐसी अपेक्षा नहीं रखना चाहिये। क्योंकि इच्छानुसार शक्ति कब किसको हुई ? लखपती करोड़पति बनना चाहता है, करोड़पति अरबों-खरबों को पाकर भी तृप्त नहीं हो सकता है, क्या कभी ईंधन से अग्नि की तृप्ति हुई है ? नहीं। अतः यदि संपत्ति को वृद्धिगंत करने की इच्छा है तो दान देते ही रहना चाहिये। कुएँ से जल निकालने से बढ़ता है वैसे ही धन दान देने से बढ़ता है।

जाप्य—**ॐ ह्रीं उत्तमत्यागधर्माङ्गाय नमः।**

उत्तम त्याग

उत्तम त्याग कहा जग में, जो त्यागे विषय कषायों को।
शुभ दान चार विध के देवें, उत्तम आदि त्रय पात्रों को।।
आहार सुऔषधि ज्ञान दान, और अभय दान उत्तम सबमें।
नृप वज्रजंघ और श्रीमती, आहार दान से पूज्य बने।।1।।

नृप वृषभ हुए श्रीमती तभी श्रेयांस हुए जग में वंदित।
श्रीकृष्ण मुनि को औषधि दे, तीर्थंकर होंगे पुण्य सहित।।
ग्वाला भी शास्त्र दान फल से, कौंडेस मुनि श्रुतपूर्ण हुआ।
मुनि को दे सूकर अभयदान, लड़कर मरकर सुर शीघ्र हुआ।।2।।

रत्नों की वर्षा पुष्प वृष्टि, अनहद बाजे वायु सुरभित।
जयजयकारा ये पाँच कहें, आश्चर्य वृष्टि सुरगण निर्मित।।
पंचाश्चर्यों की वर्षा बस, आहार दान में ही होती।
भद्रों को मिलती भोगभूमि, समकित को सुर शिव गति होती।।3।।

पात्रों का दान सुफल देता, कुपात्रों का कुत्सित फल है।
हो दान अपात्रों का निष्फल, ये चारों दान महा फल हैं।।।
थोड़े में भी थोड़ा दीजे, बहु धन की इच्छा मत करिये।
इच्छा की पूर्ति नहीं होगी, सागर में कितना जल भरिये।।4।।

यह सब व्यवहार त्याग माना, निश्चय से आत्मा सिद्ध सदृश।
सब त्याग ग्रहण से रहित सदा, टाँकी से उकेरी मूर्ति सदृश।।
सम्पूर्ण विभावों को तजकर, गुणपुँज अमल निज को ध्याऊँ।
बस ज्ञायक भाव हमारा है, उसमें ही तन्मय हो जाऊँ।।5।।

उत्तम आकिंचन्य धर्म

आकिंवणु भावहु अप्पउ ज्झावहु, देहहु भिण्णउ णाणमउ।
णिरूवम गय-वण्णउ, सुह-संपण्णउ परम अतिंदिय विगयभउ।।
आकिंचणु वउ संगह-णिवित्ति, आकिंचणु वउ सुहझाण-सत्ति।
आकिंचणु वउ वियलिय-ममत्ति, आकिंचणु रयण-त्तय-पवित्ति।।
आकिंचणु आउंचियइ चित्तु पसरंतउ इंदिय-वणि विचित्तु।
आकिंचणु देहहु णेह चत्तु, आकिंचणु जं भव-सुह विरत्तु।।
तिणमित्तु परिग्गहु जत्थ णत्थि, आकिंचणु सो णियमेण अत्थि।
अप्पापर जत्थ विचार-सत्ति, पयडिज्जइ जहिं परमेट्ठि-भत्ति।।
छंडिज्जइ जहिं संकप्प दुट्ठ, भोयणु वंछिज्जइ जहिं अणिट्ठ।
आकिंचणु धम्मु जि एम होइ तं जझाइज्जइ णिरू इत्थ लोइ।।

—घत्ता—

एहु जि पहावें लद्धसहावें तित्थेसर सिव-णयरि गया।
गय-काम-वियारा पुण रिसि-सारा वंदणिज्ज ते तेण सया।।

अर्थ—आकिंचन्य धर्म की भावना करो कि यह आत्म शरीर से भिन्न है, ज्ञानमयी है, उपमा रहित है, वर्ण रहित है, सुख संपन्न है, परम-उत्कृष्ट है, अतींद्रिय है और भयरहित है, इस प्रकार से आत्मा का ध्यान करो, यही आकिंचन्य है।

सर्व परिग्रह से निवृत्त होना आकिंचन्य व्रत है, शुभध्यान करने की शक्ति का होना आकिंचन्यव्रत है, ममत्त्व से रहित होना आकिंचन्य व्रत है और रत्नत्रय में प्रवृत्ति होना आकिंचन्य व्रत है।

आकिंचन्य व्रत विचित्र इंद्रियरूपी वन में दौड़ने वाले मन को आकुंचित-नियन्त्रित करता है, देह से स्नेह को छोड़ना आकिंचन्य व्रत है और जो भव सुख से विरक्त होना है वह भी आकिंचन्य व्रत है।

जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं होता वह नियम से आकिंचन्य व्रत है। जहाँ पर अपने और पर के विचार करने की (स्व-पर भेद विज्ञान) शक्ति है और जहाँ परमेष्ठी की भक्ति प्रगट होती है, जहाँ पर दुष्ट संकल्पों का त्याग किया जाता है और जहाँ पर अनिष्ट भोजन की वांछा नहीं रहती है वहीं पर आकिंचन्य धर्म होता है। अतः मनुष्य को इस लोक में निरन्तर उस आकिंचन्य धर्म का ध्यान

करना चाहिए।

इस आकिंचन्य धर्म के प्रभाव से अपने स्वभाव को प्राप्त करके तीर्थंकरों ने शिवनगर को प्राप्त कर लिया है। इसी धर्म से काम विकार से रहित हुये ऋषिगण सदा वंदनीय हैं।

अकिञ्चनो न मे किंचित् आत्मानंत गुणात्मकः।
परद्रव्यात् सदा भिन्नस्त्रैलोक्याधिपतिर्महान्।।1।।

अणुमात्रं परं स्वस्य, मत्वा जीवो भवे भ्रमेत्।
कायेऽपि निर्ममो भूयात् लोकाग्रे निवसेत्तदा।।2।।

जमदग्निमुनिर्मिथ्यातापसोऽभूत् परिग्रही।
भवाब्धौ पतितो दीर्घभारैः स्यात्कथमूर्ध्वगः।।3।।

पिच्छि कमंडलू शास्त्रं गृण्हाति देहनिः स्पृहः।
आतापनादियोगेषु तिष्ठेत् स्वात्मैक्यसंगतः।।4।।

भगवन् ! त्वत्प्रसादान्मे शक्तिः प्रादुर्भवेत्त्वरम्।
गिरिकंदर दुर्गेषु स्वं ध्यायन, सिद्धि माप्नुयाम्।।5।।

'उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसंधि निवृत्तिराकिञ्चन्यम्।' जो शरीर आदि अपने द्वारा ग्रहण किये हुये हैं उनमें संस्कार को दूर करने के लिए 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है। 'नास्य किञ्चनास्त्यकिञ्चनः, तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्'। इसका कुछ नहीं है वह अकिंचन है और अकिंचन का भाव या कर्म आकिञ्चन्य है।

'न मे किञ्चन अकिञ्चनः' मेरा कुछ भी नहीं है अतः मैं अकिञ्चन हूँ। फिर भी मेरी आत्मा अनंतगुणों से परिपूर्ण है। मैं सदा परद्रव्य से भिन्न हूँ और तीन लोक का अधिपति महान् हूँ। यह अणुमात्र भी परवस्तु को जब तक अपनी मानता रहता है तब तक संसार में भ्रमण करता रहता है। और जब काय से भी निर्मम हो जाता है तब लोक के अग्र भाग में विराजमान हो जाता है। जमदग्नि मुनि ने मिथ्यातापसी होकर स्त्री आदि का परिग्रह स्वीकार कर लिया अतः वह संसार समुद्र में डूब गया। सच है, दीर्घ भार लेकर मनुष्य ऊपर कैसे गमन कर सकता है ? शरीर से भी निःस्पृह हुये साधु पिच्छी, कमंडलु और शास्त्र को ग्रहण करते हैं फिर भी अपनी आत्मा में एकाग्र होते हुये आतापन आदि योगों में स्थित हो जाते हैं। हे भगवन्! आपके प्रसाद से शीघ्र ही मुझे में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो

जावे कि मैं पर्वत पर, कन्दराओं में और दुर्ग आदि प्रदेशों में अपनी आत्मा का ध्यान करते हुये सिद्धि पद को प्राप्त कर लेऊँ।।1 से 5।। ऐसी भावना सदा भाते रहना चाहिए।

जो भव्य जीव संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर गृह का त्याग कर देते हैं वे ही महासाधु अकिंचन कहलाते हैं। पुनः अपनी रत्नत्रय निधि को संभालकर तीन लोक के नाथ हो जाते हैं, कहा भी है—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्।
योगिगम्यं तवप्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः[1]।।110।।

हे भव्य! तू मेरा कुछ भी नहीं है, ऐसी भावना के साथ स्थित हो। ऐसा होने पर तू तीन लोक का स्वामी (सिद्ध परमेष्ठी) हो जावेगा। यह तूझे परमात्मा का रहस्य बतला दिया है जो कि केवल योगियों के द्वारा ही प्राप्त करने योग्य है या उनके ही अनुभव का विषय है।

अभिप्राय यही है कि त्याग से तीन लोक की सम्पत्ति, रूप, अनंतगुण प्राप्त हो जाते हैं।

एक समय था जब राजा लोग नियम से राज्य को छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेते थे। देखो! भगवान् आदिनाथ के पुत्र भरत ने कैलाशपर्वत से मोक्ष प्राप्त किया। पुनः उनके पुत्र अर्ककीर्ति ने अपने पुत्र को राज्य देकर मोक्ष प्राप्त किया। ऐसे ही भरत को आदि लेकर चौदह लाख इक्ष्वाकु वंशीय राजा लगातार मोक्ष गये हैं। उसके बाद एक राजा सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हुये फिर अस्सी राजा मोक्ष गये परन्तु उनके बीच में एक-एक राजा इन्द्रपद को प्राप्त होता रहा।

इस समय तो इस कलिकाल में तीन लोक की रक्षा करने वाले ऐसे केवली भगवान् नहीं हैं, फिर भी इस भरत क्षेत्र में जगत में उद्योत करने वाले ऐसे श्रेष्ठ वचन उनके विद्यमान हैं और उन वचनों का अवलंबन लेकर रत्नत्रय धारण करने वाले मुनि भी विचरण कर रहे हैं। इसलिए आज जिनदेव की वाणी सदा पूज्य है और उसकी पूजा से ऐसा समझना चाहिये कि साक्षात् जिनेन्द्र देव की ही पूजा की है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी मुनियों के अस्तित्व का विधान किया है—

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झायेइ लहइ इंदत्तं।
लोयंत्तिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति[4]।।

---

1. आत्मानुशासन। 2. हरिवंश पुराण, पर्व 13, पृ. 217। 3. पद्मनंदिपंचविंशतिका। 4. मोक्षपाहुड़।

आज भी रत्नत्रय से शुद्ध मुनि आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद को अथवा लौकांतिक पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

जो सब कुछ त्याग कर देते हैं वे ही महामुनि सब कुछ देने में समर्थ होते हैं। सो सच ही है, समुद्र से कोई भी नदी नहीं निकलती है किन्तु पर्वत से ही निकलती है।

एक दृढ़ग्राही नाम के राजा थे। हरिशर्मा नाम के ब्राह्मण के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। किसी समय राजा को वैराग्य हो गया अतः उसने दिगम्बर मुनिराज के पास में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। ये देखकर हरिशर्मा भी भोगों से विरक्त हुआ और जाति के संस्कार से वह तापसी हो गया। राजा ने जिनेन्द्र प्रतिपादित तपश्चरण के प्रभाव से अन्त में समाधिमरण करके सौधर्म स्वर्ग में देवपद प्राप्त कर लिया और हरिशर्मा ने अज्ञानतप करके अन्त में शरीर छोड़कर ज्योतिषी देवों में जन्म धारण कर लिया।

पूर्वभव की मित्रता के संस्कार से राजा के जीव ने अपने अवधिज्ञान से यह जानना चाहा कि मेरा मित्र कहाँ जन्मा है ? जब उसने उसे ज्योतिर्लोक में देव हुआ जाना तब वह अपने स्वर्ग से वहाँ आकर अपना परिचय देते हुये बोला—

"मित्र ! देखो सम्यक्त्व का प्रभाव ! मैं इस वैमानिक देवों के कुल में जन्मा हूँ और मिथ्यात्व के निमित्त से तुम ज्योतिषी देवों के यहाँ जन्मे हो। इसलिए हे बंधु! जो मोक्ष को प्राप्त कराने में मूल कारण है ऐसे सम्यग्दर्शन को तुम ग्रहण करो।'

मित्र के ये वाक्य सुनकर ज्योतिषी देव संशय को प्राप्त होता हुआ पूछने लगा—

"मित्र ! तापसियों का तप अशुद्ध क्यों है ?"

वैमानिक देव ने कहा—

"तुम पृथ्वी तल पर चलो मैं तुम्हें सब दिखाता हूँ।"

इसके अनंतर वे दोनों मध्यलोक में आकर आपस में कुछ सलाह कर एक तापसी के निकट पहुँचे। विक्रिया से चिड़ा-चिड़िया का रूप बनाया और उस तापसी की बड़ी-बड़ी दाढ़ी में रहने लगे। वहाँ कुछ समय रहने के बाद युक्ति से चतुर सम्यग्दृष्टि देव ने अपनी भार्या चिड़िया से कहा—

"प्रिये ! मैं पास के इस वन में जा रहा हूँ कुछ ही क्षण बाद वापस आ जाऊँगा अतः तुम चिन्ता नहीं करना। यहीं इसी स्थान पर रहते हुए मेरी प्रतीक्षा करना।"

तब चिड़िया ने कहा—

"आपका क्या विश्वास ! यदि वापस नहीं आये तो ?"

चिड़ा ने कहा—

"तुम जो कहो, सो मैं शपथ ले सकता हूँ मैं वापस अवश्य ही आऊँगा। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप हैं इनमें से तुम जो कहो मैं उसकी शपथ ले सकता हूँ। मतलब यदि मैं वापस न आऊँगा तो मुझे हिंसा करने का जो पाप होता है सो लगे।"

अनेक प्रकार से वह चिड़ा शपथ लेने को तैयार था किन्तु चिड़िया राजी नहीं हो रही थी। तब चिड़ा ने कहा—

"अच्छा तुम्हीं कहो क्या शपथ करके जाऊँ ?"

तब चिड़िया ने कहा—

"आप यह शपथ कीजिये कि 'यदि मैं वापस न आऊँ तो जो गति इस तापसी की होगी सो मेरी हो।" 'हे प्रियतम् ! यदि तुम यह शपथ करके जाना चाहो तो में जाने दूँगी अन्यथा नहीं।"

चिड़िया की यह बात सुनकर चिड़ा बोला—

"प्रिये ! तुम इस शपथ के सिवाय और चाहे जो शपथ करा सकती हो किन्तु यह शपथ तो मैं किसी भी हालत में लेने को तैयार नहीं हूँ।"

चिड़ा-चिड़िया का ऐसा वार्तालाप सुनकर वह तापसी क्रोध से भड़क उठा। उसका चेहरा लाल हो गया और नेत्र घूमने लगे। उसने क्रूरतावश दोनों को मारने के लिये मजबूती से अपनी दाढ़ी पकड़ ली और बोला—

"अरे दुष्टों ! मेरे इतने कठोर तपश्चरण से मेरी जो भावी गति होने वाली है उसे तुम क्यों नहीं पसन्द कर रहे हो ?"

यह सुनकर चिड़ा बोला—

"महात्मा जी ! आप क्रोध न करें अन्यथा आपकी सज्जनता नष्ट हो जायेगी। देखो ना, थोड़ी सी जामिन की छाँछ से ही दूध नष्ट हो जाता है। यद्यपि आपका तपश्चरण कठोर है फिर भी आपकी दुर्गति का कारण क्या है? सो आप सुनें—

आपने जो कुमार काल से ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया है सो सन्तान के लिए ही है और सन्तान का घात करने वाले पुरुष की नरक गति के सिवाय अन्य दूसरी गति नहीं है। देखो वेद में लिखा हुआ है कि—"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" पुत्र रहित मनुष्य की कोई गति नहीं होती है। बाबा जी ? क्या आपने यह वेदवाक्य

नहीं सुना है ? यदि सुना है तो फिर बिना विचारे क्यों इस तरह मूढ़ होकर क्लेश उठा रहे हो ?''

चिड़ा की ऐसी युक्तिपूर्ण बातें सुनकर वह मंद बुद्धि तापसी अपने तप से विचलित हो गया और उसने स्त्री परिग्रह स्वीकार करने का निश्चय कर लिया। वह चिड़ा-चिड़ी को अपना परमोपकारक मानता हुआ उसी क्षण वहाँ से चल पड़ा और कान्यकुब्ज नगर के राजा पारत के राजदरबार में आ गया। महाराजा पारत इस जमदग्नि तापस के मामा थे, उसे अकस्मात् दरबार में आया देखकर उन्होंने उसके सामने दो तरह के आसन रखवाये। वह अज्ञानी तापस अपने अज्ञान को ही प्रगट करता हुआ वीतरागी काष्ठासन को छोड़कर सरागी आसन पर बैठ गया। पुनः वह अपने आने का वृतान्त राजा को बतलाते हुए बोला—

''राजन ! मेरे परम सौभाग्य से किसी देवता ने प्रगट होकर मुझे सही मार्ग दिखलाया है कि तुम पहले विवाह करके पुत्र उत्पन्न करो पुनः तपश्चरण करो अन्यथा नरक जाना पड़ेगा सो मैं आपके यहाँ आपकी पुत्री की याचना करने के लिये आया हूँ।''

उस तापस की इस निर्लज्जतापूर्ण बात को सुनकर महाराज अवाक् रह गये। पुनः मन ही मन उसके अज्ञान तप की निन्दा करते हुये बोले—

''जमदग्नि मुने ! मेरे सौ पुत्रियाँ हैं उनमें से तुम्हें जो वरण करना चाहे उसके साथ विवाह कर लो।''

राजा ने ऐसा कहते हुए समझा था कि न कोई कन्या इस अर्धमृतकवत् जर्जरित शरीर वाले वृद्ध को चाहेगी और न यह यहाँ से कन्या ले जा सकेगा। किन्तु होनहार जो होनी है सो होकर ही रहती है।

उसके सामने सभी लड़कियाँ बुलाई गयीं और राजा की आज्ञा के अनुसार कंचुकी ने कहा—

''पुत्रियों ! ये तापसी तुम्हारे पिता के पास तुममें से किसी कन्या की याचना के लिये यहाँ आये हैं अतः तुममें से कोई भी कन्या इसे स्वीकार करो।''

इतना सुनते ही सभी कन्यायें उस तापसी को देखकर डर गईं और एक साथ ही सब वहाँ से भाग गईं। यह देख वह तापस बहुत ही दुःखी हुआ और पुनः—पुनः राजा से अनुनय-विनय करने लगा। तब राजा ने कहा—

''ऋषे ! तुम जिस कन्या को राजी कर सको उसे ले जा सकते हो।''

इतना सुनकर वह दरबार से बाहर निकला। कन्याओं से क्रीड़ा करने के

लिये बगीचे में पहुँचा। वहाँ पर एक छोटी सी राजकन्या धूलि में खेल रही थी। उसके निकट जाकर और एक केला दिखाकर उससे बोला—

''यदि तू मुझे चाहेगी तो वह केला मैं तुझे दूँगा।'' बेचारी अबोध बालिका कुछ भी नहीं समझती थी अतः वह बोली—

''हाँ, मैं तुम्हें चाहूँगी।''

बस फिर क्या था उस मूढ़ ने उसे केला दिया और झट से गोद में लेकर राजा के निकट पहुँचकर बोला—

''राजन ! यह लड़की मुझे चाहती है।''

महाराज ने अपना माथा ठोक लिया, बेचारे कर ही क्या सकते थे ? वह जमदग्नि उस लड़की को लेकर अपने वन की ओर चला जा रहा था और देखने वाले लोग उसकी निन्दा कर रहे थे। कुछ दिनों तक उसने उस बालिका को पाल-पोस कर बड़ी किया पुनः युवती होने पर उसके साथ विवाह करके वन में ही आश्रम बनाकर रहने लग गया।

उसी समय से तापसाश्रम में रहकर तापसी बनकर तपश्चरण करने की प्रथा चल पड़ी है। आगे चलकर इस जमदग्नि तापसी के दो पुत्र हुये जिनके इन्द्र और श्वेतराम ये नाम रखे गये। इनमें से ही बड़े पुत्र ने अपनी परशु विद्या के प्रभाव से अयोध्या के राजा सहस्रबाहु को मारकर बहुत दिनों तक राज्य किया है और अपने राज्यकाल में इक्कीस बार क्षत्रिय वंश को निर्मूल नाश किया है। परशु विद्या के प्रभा से परशुराम इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुये इस ऋषि पुत्र को सुभौम नामक क्षत्रिय पुत्र ने मार कर चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया था।

आचार्य कहते हैं, इस भोग वासना की निंद्यबुद्धि को धिक्कार हो। कि जहाँ स्त्री, पुत्र आदि परिग्रह रखकर भी मूढ़ लोग अपने को तपस्वी मान लेते हैं। क्या वे इस परिग्रह के भार को लेकर संसार समुद्र को पार कर सकते हैं? नहीं। ऐसा समझकर निर्ग्रंथ मुद्रा को ही मोक्षमार्ग मानना चाहिये और इस आकिंचन्य धर्म की उपासना करके अपने आत्मगुणों को विकसित करना चाहिये।

जाप्य—**ॐ ह्रीं उत्तमआकिंचन्यधर्माङ्गाय नमः।**

उत्तम आकिंचन्य

नहिं किंचित् भी तेरा जग में, यह ही आकिंचन भाव कहा।
बस एक अकेला आत्मा ही, यह गुण अनन्त का पुँज अहा।।
अणुमात्र वस्तु को निज समझें, वे नरक निगोद निवास करें।
जो तन से भी ममता टारें, वे लोक शिखर पर वास करें।।1।।

जमदग्नि मिथ्या तापस ने, निज ब्याह रचा था आश्रम में।
परिग्रह का पोट धरा शिर पर, बस डूब गया भवसागर में।।
जिनमत के मुनिगण सब परिग्रह, तज दिग अम्बर को धरते हैं।
बस पिच्छी और कमंडल लेकर, भवसागर से तिरते हैं।।2।।

धन्य-धन्य महामुनि वे जग में, गिरि शिखरों पर तप करते हैं।
वे जग में रहते हुए सदा निज, में ही विचरण करते हैं।।
ग्रीष्म में पर्वत चोटी पर, सर्दी में सरिता तट तिष्ठें।
वर्षा में तरुतल ध्यान धरें, निश्चलतन से परिषह सहते।।3।।

मैं काल अनादि से अब तक, एकाकी जन्म मरण करता।
एकाकी नरक निगोदों के, चारों गतियों के दुख सहता।।
इस जग में जितने भी भव हैं, मैं उन्हें अनन्तों बार धरा।
बस मेरा निर्मम एक शुद्ध पद, उसे न अब तक प्राप्त करा।।4।।

भगवन् ! ऐसी शक्ति दीजे, मैं निर्मम हो वनवास करूँ।
आतापन आदि योग धरूँ, भवभव का त्रास विनाश करूँ।।
उपसर्ग परीषह आ जावें, मुझको नहिं किंचित् भान रहे।
हो जाय अवस्था ऐसी ही, बस मेरा ही इक ध्यान रहे।।5।।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

बंभव्वउ दुद्धरू धरिज्जइ वरू फेडिज्जइ बिसयास णिरू।
तिय-सुक्खइं रत्तउ मण-करि मत्तउ तं जि भव्व रक्खेहु थिरू।।
चित्तभूमिमयणु जि उप्पज्जइ, तेण जि पीडिउ करइ अकज्जइ।
तियहं सरीरइं णिंदइं सेवइ, णिय-पर-णारि ण मूढउ देयइ।।
णिवडइ णिरइ महादुह भुंजइ, जो हीणु जि बंभव्बउ भंजइ।।
इय जाणेप्पिणु मण-वय-काएं, बंभचेरू पालहु अणुराएं।।
तेण सहु जि लब्भइ भवपारउ, बंभय विणु वउ तउ जि असारउ।
बंभव्बय विणु कायकिलेसो, विहल सयल भासियइ जिणेसो।
बाहिर फरसिंदिय सुह रक्खउ, परम बंभु अभिंतरि पेक्खउ।
एण उपाएं लब्भइ सिव-हरू, इम 'रइधू' बहु भणह विणययरू।।

—घत्ता—

जिणणाह महिज्जइ मुणि पणमिज्जइ दहलक्खणु पालियइ णिरू।
भो खेमसींह-सुय भव्व विणयजुय होलुव मण इह करहु थिरू।।

अर्थ—दुर्धर और उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करना चाहिए और विषयों की आशा का त्याग कर देना चाहिए। यह प्राणी स्त्री सुख में रत होकर मनरूपी हाथी से मदोन्मत्त हो रहा है, इसलिये हे भव्यों ! स्थिर होकर उस ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करो।

यह कामदेव चित्तरूपी भूमि में उत्पन्न होता है, उससे पीड़ित होकर यह जीव न करने योग्य कार्य को भी कर डालता है। वह स्त्रियों के निंद्य शरीर का सेवन करता है और मूढ़ होता हुआ अपनी तथा पराई स्त्री में भेद नहीं करता है।

जो हीन पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत का भंग करता है वह नरक में पड़ता है और वहाँ महान् दुःखों को भोगता है। यह जानकर मन-वचन-काय से अनुराग रहित होकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो।

इस व्रत से जीव संसार के तीर को प्राप्त कर लेता है। इस ब्रह्मचर्य व्रत के बिना व्रत और तप सब असार (निष्फल) हैं। ब्रह्मचर्य व्रत के बिना जितने भी कायक्लेश तप किये जाते हैं वे सब निष्फल हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव कहते हैं।

बाहर में स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख से अपनी रक्षा करो और अभ्यंतर में परमब्रह्म स्वरूप का अवलोकन करो। इस उपाय से मोक्षरूपी घर की प्राप्ति होती

है। इस प्रकार 'रइधू कवि' बहुत ही विनय के साथ कहते हैं।

जिनेन्द्र देव द्वारा जिसकी महिमा गाई गई है और मुनिगण जिसे प्रणाम करते हैं, उस दशलक्षण धर्म का निरन्तर ही पालन करो।

हे भव्यों ! विनययुक्त क्षेमसिंह के पुत्र होलू के समान तुम अपने मन को इन्हीं दश धर्मों में स्थिर करो।

आत्मैव ब्रह्म तस्मिन् स्यात् चर्येति ब्रह्मचर्यभाक्।
वासो वा गुरुसंघेऽपि ब्रह्मचारी स उत्तमः।।1।।
एकमंकं विनाऽसंख्यविंदूनां गणना नु का?
ऋते ब्रह्मव्रताल्लोकेऽन्यव्रतानां फलं कुतः?।।2।।
अभुक्त्वापि परित्यक्तं विश्वमुच्छिष्टवत् पुरा।
यैस्तान्नमामि भवत्याहं कौमारब्रह्मचारिणः।।3।।
अणुब्रह्मव्रती श्रेष्ठी यशस्वीह सुदर्शनः।,
सीतायाः शीलमाहात्म्यात् अग्निर्वारिसरोऽभवत्।।4।।
स्वब्रह्माणि रमित्वाहं हित्वा सर्वान् विकल्पकान्।
लब्ध्वा ज्ञानवतीं लक्ष्मीं भविष्यामि जगत्पतिः।।5।।

''अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते। स्वतंत्रवृत्तिनिवृत्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। अनुभूत स्त्री का स्मरण, उनकी कथाओं का श्रवण और उनसे संसक्त शयन, आसन आदि इन सबका त्याग करना ब्रह्मचर्य है अथवा स्वतंत्र वृत्ति का त्याग करने के लिये गुरुओं के पास रहना सो ब्रह्मचर्य है[1]।''

'आत्मा ही ब्रह्म है उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा में चर्या करना सो ब्रह्मचर्य है अथवा गुरु के संघ में रहना भी ब्रह्मचर्य है। इस विधचर्या को करने वाला उत्तम ब्रह्मचारी कहलाता है। जिस प्रकार से एक (1) अंक को रखे बिना असंख्य बिन्दु भी रखते जाइये किन्तु क्या कुछ संख्या बन सकती है? नहीं, उसी प्रकार से एक ब्रह्मचर्य के बिना अन्य व्रतों का फल कैसे मिल सकता है अर्थात् नहीं मिल सकता। पहले बिना भोगे भी जिन्होंने इस विश्व को उच्छिष्ठ के सदृश समझकर छोड़ दिया है, मैं उन बाल ब्रह्मचारियों को नमस्कार करता हूँ। देखो! सुदर्शन सेठ ने ब्रह्मचर्याणुव्रत का ही पालन किया था फिर भी वे आज तक यशस्वी हैं। सीता

1. सर्वार्थसिद्धि।

के शील के माहात्म्य से अग्नि भी जल का सरोवर हो गयी थी। मैं भी सर्व विकल्पों को छोड़कर अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा में रमण करके ज्ञानवती लक्ष्मी को प्राप्त करके पुनः निश्चिंत हो तीन लोक का स्वामी हो जाऊँगा।।1 से 5।। ऐसी भावना सतत करनी चाहिये।

विद्या और मंत्र भी ब्रह्मचर्य से ही सिद्ध होते हैं। किसी भी विधि-विधान व अनुष्ठान में ब्रह्मचर्य के बिना सिद्धि नहीं मिल सकती। जो ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाते हैं इनका नाम लेना भी पाप समझा जाता है, चूँकि वह ब्रह्मघाती है।

शिवकुमार नाम के चक्रवर्ती पुत्र ने विरक्त होकर तीन हजार स्त्रियों के बीच में रहते हुये भी 'असिधारा' व्रत अर्थात् निरतिचार ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया। चौंसठ हजार वर्ष तक इस प्रकार असिधारा व्रत का पालन करके वे स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुये। वहाँ से आकर जम्बूकुमार हो गये हैं।

किसी समय पुष्कलावती देश में राजभवन के निकट किसी सेठ के घर में चारणऋद्धिधारी श्रुतकेवली ऐसे सागरचन्द्र नाम के मुनिराज आहार के लिये पधारे। सेठ जी ने शुद्ध भावपूर्वक नवकोटि विशुद्ध प्रासुक आहार मुनिराज को दिया। ऋद्धिधारी मुनिराज को दान देने के माहात्म्य से सेठ के आँगन में आकाश से रत्नों की वृष्टि आदि पंच आश्चर्य होने लगे। उस समय जय-जयकार शब्दों के द्वारा कोलाहल के फैल जाने पर राजभवन में स्थित राजपुत्र शिवकुमार ने कौतुकपूर्वक बाहर देखा। अहो! मैंने किसी भव में इन मुनिराज का दर्शन किया है। ऐसा सोचते ही उसे तत्क्षण जातिस्मरण हो गया। पूर्वभव के ये बड़े भाई हैं, ऐसा निश्चित करके वह मुनिराज के पास आया और स्नेह के अतिरेक से मूर्च्छित हो गया। इस वृत्तांत को सुनकर चक्रवर्ती स्वयं वहाँ आकर पुत्र के मोह से व्याकुल होते हुए अत्यधिक विलाप करने लगे। पिता के इस प्रकार शोक को देखकर अत्यर्थ विरक्त हो कुमार ने जैसे-तैसे घर में रहना स्वीकार कर लिया और उसी दिन से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए यह शुद्ध सम्यग्दृष्टि अपने मित्र दृढ़वर्मा के द्वारा भिक्षा से लोए गये कृत कारित आदि दोषों से रहित शुद्ध भोजन को कभी-कभी ग्रहण करता था।

उसी दिन से कुमार निश्चित ही सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके एक वस्त्रधारी, ब्रह्मचारी होता हुआ मुनि के समान घर में रहता था। बहुत प्रकार के पक्ष, मास उपवास आदि रूप से अनशन आदि तपों को करते हुए महाविरक्तमना कुमार ने पाँच सौ स्त्रियों के बीच में रहते हुए असिधाराव्रत (पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत)

का पालन किया था। इस प्रकार से चौंसठ हजार वर्ष तक असिधारा का पालन करते हुए आयु के अंत में दिगम्बर मुनि होकर समाधिपूर्वक मरण करके ब्रह्मोत्तर नामक छठे स्वर्ग में दश सागर की आयु को प्राप्त करने वाला विद्युन्माली नाम का महान अहमिंद्र हो गया।

श्रेणिक महाराज द्वारा अनुशासित राजगृह नगर में अर्हद्दास नाम के सेठ रहते थे। उनकी धर्म परायणा जिनमती नाम की भार्या थीं। किसी समय रात्रि के पिछले भाग में जिनमती सेठानी ने जंबूवृक्ष आदि पंच उत्तम-उत्तम स्वप्न देखे। प्रातःकाल अपने पति के साथ जिनमंदिर में जाकर तीन ज्ञानधारी मुनिराज के मुखारविंद से 'चरम शरीरी पुत्र का तुम्हें लाभ होगा' ऐसा सुनकर दोनों जन बहुत ही संतुष्ट हुये। विद्युन्माली नाम का अहमिंद्रचर जीव स्वर्ग से च्युत होकर जिनमती के गर्भ में आया और नवमास के अनन्तर जिनमती ने पुत्र को जन्म दिया।

फाल्गुन मास की शुक्लपक्ष पूर्णिमा के प्रातःकाल पुत्र का जन्म होने पर उत्सव मनाया गया। दान, सम्मान, नृत्य, गीत आदि के द्वारा सर्वत्र हर्षोल्लास का वातावरण हो गया। माता-पिता ने उस बालक का 'जंबूकुमार' यह नामकरण किया। बचपन में वह कुमार सभी गुण और सभी कलाओं में विख्यात थे, पवित्रमूर्ति और पुण्यात्मा थे।

युवावस्था में प्रवेश करने पर उसी नगर के सागरदत्त आदि चार सेठों ने अपनी-अपनी पुत्रियों की जंबूकुमार के साथ ब्याह करने के लिये सगाई कर दी थी, वे कन्यायें पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नाम वाली बहुत ही सुन्दर और नवयौवना थीं।

कदाचित् बसन्त ऋतु की क्रीड़ा में जंबूकुमार ने अपनी शक्ति के बल से एक मदोन्मत्त हाथी को वश में कर लिया जिससे कि वे सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त हुये।

किसी समय जंबूकुमार ने रत्नचूल नाम के विद्याधर को युद्ध में जीतकर मृगांक नामक राजा की विशालवती कन्या की रक्षा की और राजा श्रेणिक के साथ उसका विवाह हो गया। अनन्तर युद्ध क्षेत्र को देखकर जंबूकुमार के मन में महती दया के साथ-साथ ही वैराग्य उत्पन्न हो गया।

राजगृही नगरी के उपवन में अपने पाँच सौ शिष्यों सहित श्री सुधर्माचार्य वर्य पधारे। जंबूकुमार वहाँ पहुँचे, उन्हें नमस्कार कर स्तुति आदि के द्वारा उनकी पूजा करके और उनसे पूर्व जन्म के वृत्तांत को सुनकर जैनेश्वरी दीक्षा की याचना की। आचार्यश्री ने कहा कि तुम घर में जाकर माता-पिता की आज्ञा

लेकर क्षमा करके और क्षमा कराऊं आओ तब मैं दीक्षा दूंगा। इस प्रकार गुरु के वचन के अनुरूप बिना इच्छा के ही कुमार ने घर जाकर माता-पिता से दीक्षा की बात कह दी। मोह के माहात्म्य से माता-पिता ने जिस-तिस किसी प्रकार से उसी दिन ही जिन से सगाई हुई थी उन चारों कन्याओं के साथ विवाह करा दिया और उसी रात्रि में एक कमरे में चारों ही नव-विवाहित पत्नियों के साथ बैठे हुये वे कुमार उन स्त्रियों से अलिप्त रहते हुये वैराग्य को बढ़ाने वाली कथाओं से रात्रि बिताने लगे।

इसी बीच अत्यन्त चिंतित हुई माता जिनमती बार-बार जंबूकुमार के कमरे के पास घूम रही थीं, कि कुमार इन स्त्रियों में आसक्त होता है या नहीं? उसी समय विद्युच्चर नाम का चोर, चोरी करने के लिए उस भवन में आया था। इस घटना को जानकर माता जिनमती के अग्राह से वह चोर बहुत प्रकार के उपायों से जंबूकुमार को घर में रहने के लिये समझाने लगा। किन्तु कुमार ने सभी उपेक्षा करके प्रातःकाल ही गुरु के पास पहुँच कर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली, उस समय विद्युच्चर चोर भी अपने पाँच सौ साथियों के साथ दीक्षित हो गया, पिता अर्हद्दास ने भी दीक्षा ले ली। माता जिनमती ने भी अपनी चारों बहुओं के साथ सुप्रभा आर्यिका के समीप आर्यिका दीक्षा ले ली। जिस दिन सुधर्माचार्य गुरु मुक्ति को प्राप्त हुये हैं उसी दिन जंबूस्वामी को केवलज्ञान प्रगट हो गया, इसलिये जंबूस्वामी अनुबद्ध केवली कहलाये हैं। जंबूस्वामी के मोक्ष जाने पर उस दिन से कोई केवली नहीं हुये हैं।

धन्य हैं ये जंबूस्वामी, कि जो पूर्वभव में असिधारा व्रत का अनुष्ठान करके इस भव में तत्काल विवाही हुई नवीन पत्नियों में सर्वथा अनासक्त होते हुये अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके मुक्ति लक्ष्मी में आसक्त हो गये, उन्हें मेरा बारंबार नमस्कार होवे।

भीष्म पितामह ने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत के प्रसाद से लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लिया था। विशल्या के प्रभाव से लक्ष्मण के लगी हुई 'अमोघशक्ति' नाम की विद्या का प्रभाव खत्म हो गया था। किन्तु विवाहित होने के बाद में उसमें वह विशेषता नहीं रह सकी थी। इस प्रकार से पूर्ण ब्रह्मचर्य की महिमा तो अलौकिक है ही। यह तीन लोक पूज्य व्रत माना जाता है। किन्तु जो एक देश रूप ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे भी देवों द्वारा पूजा को प्राप्त होते हैं।

सीता, मनोरमा, सेठ सुदर्शन आदि के उदाहरण विश्व प्रसिद्ध हैं। किन्तु जो

व्यभिचार की भावना भी करते हैं वे लोक में निंद्य होकर अपयश के भागी बनते हैं तथा परलोक में दुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं। उनका नाम भी लोगों को नहीं सुहाता है जैसे कि रावण, सूर्पनखा, दुःशासन आदि।

कुछ लोगों का कहना है कि भोगों को भोगकर पुनः त्याग करना चाहिये अन्यथा इन्द्रियों का दमन नहीं हो सकता है किन्तु यह सर्वथा गलत धारणा है। देखो ! अग्नि में यदि तीन लोक प्रमाण भी ईंधन डालते चले जाओ तो क्या वह कभी तृप्त हो सकती है? वह जलती ही रहेगी और उसकी ज्वालायें बढ़ती ही चली जायेंगी। उसी प्रकार से भोगों की लालसा भोगने से कभी भी शांत न होकर वृद्धिंगत ही होती है अतः उसको शांत करने के लिए शील की नव बाड़ लगानी चाहिए और मन-वचन-काय से स्त्री के सम्पर्क को छोड़कर आत्मा के अपूर्व आनन्द का अनुभव करना चाहिए। विषयों में आसक्त हुए मनुष्य प्रायः विवेक शून्य हो जाते हैं। कहा भी है—

'चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित्[1]।

अन्धा मनुष्य चक्षु से ही नहीं देखता है किन्तु विषयों में अंधा हुआ मनुष्य किसी भी प्रकार से नहीं देखता है। अतः हमेशा वैराग्य भावना आदि पाठों को पढ़ते हुए अंतरंग में विरक्ति को बढ़ाना चाहिए। यथा—

'ज्यों ज्यों भोग संजोग मनोहर मनवांछित फल पावे।
तृष्णा नागिन त्यों त्यों डंके लहर जहर की आवे[2]।।

बिना ब्रह्मचर्य के आज तक किसी ने मुक्ति को प्राप्त न किया है और न कर ही सकते हैं। ऐसा समझकर ब्रह्मचर्य व्रत की उपासना करते हुए अपने आत्मिक सुख को प्राप्त करना चाहिए।

जाप्य—**ॐ ह्रीं उत्तमब्रह्मचर्यधर्माङ्गाय नमः।**

1. आत्मानुशासन। 2. वैराग्यभावना, भूधरदास कृत।

उत्तम ब्रह्मचर्य

यह ब्रह्मस्वरूप कही आत्मा, इसमें चर्या ब्रह्मचर्य कहा।
गुरुकुल में वास रहे नित ही, वह भी है ब्रह्मचर्य दुखहा[1]।।
सब नारी को माता भगिनी, पुत्रीवत् समझें पुरुष सही।
महिलायें पुरुषों को भाई, पितु, पुत्र सदृश समझें नित ही।।1।।

इक अंक लिखे बिन अगणित भी, बिन्दु की संख्या क्या होगी?
इक ब्रह्मचर्य व्रत के बिन ही, धर्मादि क्रिया फल क्या देगी ?
भोगों को जिनने बिन भोगे, उच्छिष्ट समझकर छोड़ दिया।
उन बालयती को मैं नितप्रति, वंदूँ प्रणमूँ निज खोल हिया।।2।।

इक देश ब्रह्मव्रत जो पाले, वे शीलव्रती नर नारी भी।
सीता सम अग्नि नीर करें, सुर वंदित मंगलकारी भी।।
शूली से सिंहासन देखा, वह सेठ सुदर्शन यश मंडित।
रावण से नरक गति पहुँचे, वह चन्द्रनखा भी यश खंडित।।3।।

मेरी आत्मा है परम ब्रह्म, भगवान् अमल चिदरूपी है।
यह है शरीर अपवित्र अथिर, आत्मा शाश्वत चिन्मूर्ति है।।
यह द्रव्यकर्म मल भावकर्म, मल आत्म स्वरूप मलिन करते।
जब मैं इन सबसे पृथक् रहूँ, तब सब कर्म स्वयं भगते।।4।।

निज आत्मा में ही रमण करूँ, निज सौख्य सुधा को पाऊँ मैं।
पर के संकल्प विकल्पों को, इक क्षण में ही ठुकराऊँ मैं।।
पर का किंचित् भी भान न हो, निज में तन्मयता पाऊँ मैं।
निज 'ज्ञानमती' लक्ष्मी पाकर त्रैलोक्यपती बन जाऊँ मैं।।5।।

है उत्तम क्षमा मूल जिसमें, मृदुता सुतना, आर्जव शाखा।
पत्ते सच हैं शुचि भाव नीर, संयम तप त्याग कुसुम भाषा।।
आकिंचन ब्रह्मचर्य कोंपल, से सुन्दर वृक्ष सघन छाया।
फल स्वर्ग मोक्ष का देता है, दश धर्म कल्पद्रुम मन भाया।।1।।

-दोहा-

धर्म कल्पद्रुम के निकट, माँगू शिवफल आज।
''ज्ञानमती'' लक्ष्मी सहित, पाऊँ सुख साम्राज्य।।2।।

1. दुःख को हनन करने वाला।

दश धर्म एक कल्पवृक्ष है—

क्षमामूलं मृदुत्वं स्यात्, स्कंध शाखाः सदार्जवम्।
सत्यपत्राणि शौचं कं, पुष्पाणि संयमस्तपः।।1।।
त्यागश्चाकिञ्चनो ब्रह्म मंजरी सुमनोहरा।
धर्मकल्पद्रुमश्चैष दत्ते स्वश्च शिवं फलम्।।2।।
धर्मकल्पतरो ! त्वाहं समुपास्य पुनः पुनः।
ज्ञानवत्या श्रिया युक्तं, याचे मुक्त्यैकसत्फलम्।।3।।

क्षमा जिसकी जड़ है, मृदुता स्कंध है, आर्जव शाखायें हैं, सत्यधर्म पत्ते हैं, उसको सिंचित करने वाला शौचधर्म जल है, संयम, तप और त्याग रूप पुष्प खिल रहे हैं, आकिञ्चन और ब्रह्मचर्य धर्मरूप सुन्दर मंजरियाँ निकल आई हैं। ऐसा यह धर्मरूप कल्पवृक्ष स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देता है। हे धर्मकल्पतरो! मैं तुम्हारी पुनः पुनः उपासना करके तुमसे ज्ञानवती लक्ष्मी से युक्त मुक्तिरूप एक सर्वोत्कृष्ट फल की ही याचना करता हूँ।।1 से 3।।

क्षमावणी

दशलक्षण पर्व का प्रारम्भ भी क्षमाधर्म से होता है और समापन भी क्षमावणी पर्व से किया जाता है। दश दिन धर्मों की पूजा करके, जाप्य करके जो परिणाम निर्मल किये जाते हैं और दश धर्मों का उपदेश श्रवण कर जो आत्म शोधन होता है उसी के फलस्वरूप सभी श्रावक-श्राविकायें किसी भी निमित्त परस्पर में होने वाली मनो मलिनता को दूर कर आपस में क्षमा कराते हैं। क्योंकि यह क्रोध कषाय प्रत्यक्ष में ही अग्नि के समान भयंकर है। क्रोध आते ही मनुष्य का चेहरा लाल हो जाता है। ओंठ काँपने लगते हैं, मुखमुद्रा विकृत और भयंकर हो जाती है। किन्तु प्रसन्नता में मुख मुद्रा सौम्य, सुन्दर दिखती है। चेहरे पर शांति दिखती है। वास्तव में शांत भाव का आश्रय लेने वाले महामुनियों को देखकर जन्मजात बैरी ऐसे क्रूर पशुगण भी क्रूरता छोड़ देते हैं। यथा—

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदिनी व्याघ्र पोतं।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकांता भुजंगीम्।।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जंतवोऽन्ये त्यजंति।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्[1]।।

हरिणी सिंह के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है, गाय व्याघ्र के बच्चे को दूध पिलाती है, बिल्ली हंसों के बच्चों को प्रीति से लालन करती है एवं मयूरी सर्पों को प्यार करने लगती है। इस प्रकार से जन्मजात भी बैर को क्रूर जंतुगण छोड़ देते हैं। कब ? जबकि वे पापों को शान्त करने वाले मोहरहित और समताभाव में परिणत ऐसे योगियों का आश्रय पा लेते हैं अर्थात् ऐसे महामुनियों के प्रभाव से हिंसक पशु अपनी द्वेष भावना छोड़कर आपस में प्रीति करने लगते हैं। ऐसी शांत भावना का अभ्यास इस क्षमा के अवलंबन से ही होता है।

क्रोध कषाय को दूर कर इस क्षमाभाव को हृदय में धारण करने के लिये भगवान् पार्श्वनाथ का चरित्र, श्री संजयंत मुनि का चरित्र और तुंकारी की कथायें पढ़नी चाहिये तथा क्षमाशील साधु पुरुषों का आदर्श जीवन देखना चाहिये। आचार्य शांतिसागर जी आदि साधुओं ने इस युग में भी उपसर्ग करने वालों पर क्षमाभाव धारण करके सदैव प्राचीन आदर्श प्रस्तुत किया है। बहुत से श्रावक भी क्षमा करके-कराके अपने में अपूर्व आनंद का अनुभव करते हैं। अतः हृदय से क्षमा करना तथा दूसरों से क्षमा कराना ही क्षमावणी पर्व है।

1. ज्ञानार्णव।

दशलक्षण व्रत

दशलक्षण व्रत विधि

भादों सुदी पंचमी से चतुर्दशी तक यह व्रत किया जाता है। यदि दश दिन के मध्य कोई तिथि क्षय होवे तो चतुर्थी से व्रत प्रारम्भ करें और यदि कोई तिथि अधिक होवे तो ग्यारह दिन का व्रत करना चाहिये। व्रत में दशों दिन उपवास करना चाहिये और यदि शक्ति न हो तो पंचमी और चतुर्दशी को उपवास करना चाहिये तथा मध्य के दिनों में एकाशन करना चाहिये। प्रतिदिन जिनप्रतिमा का पंचामृत या मात्र जल से अभिषेक करके चौबीसी पूजा और दशलक्षण की पूजा करना चाहिये। दश दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुए प्रतिदिन तीनों काल में पुष्पांजलि करना चाहिये। एक उपवास एक पारणा ऐसे एकांतर से भी व्रत किया जाता है।

इसी प्रकार से माघ और चैत्रमास की शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक व्रत करना चाहिये। दश वर्ष तक विधिवत् व्रत करके शक्ति के अनुसार उद्यापन विधि करना चाहिये। दशलक्षण व्रत के उद्यापन का विधान करके यथाशक्ति छत्र, चामर आदि उपकरण मंदिर में चढ़ाने चाहिये। उद्यापन शक्ति न होने से व्रत दूना करना चाहिये। व्रत के दिन निम्नलिखित[1] जाप्य करना चाहिये।

1.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय नमः।
2.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तममार्दवधर्माङ्गाय नमः।
3.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमआर्जवधर्माङ्गाय नमः।
4.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमसत्यधर्माङ्गाय नमः।
5.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमशौचधर्माङ्गाय नमः।
6.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमसंयमधर्माङ्गाय नमः।
7.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमतपोधर्माङ्गाय नमः।
8.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमत्यागधर्माङ्गाय नमः।
9.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमआकिंचनधर्माङ्गाय नमः।
10.ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमब्रह्मचर्यधर्माङ्गाय नमः।

1. 'व्रततिथिनिर्णय' पुस्तक, पृ. 242।

व्रत कथा

धातकीखंड के पूर्व विदेह में विशालाक्षा नाम की नगरी थी। यहाँ के राजा प्रियंकर की पुत्री मृगांकरेखा, मंत्री की पुत्री कामसेना, सेठ मतिसागर की पुत्री मदनवेगा और लक्षभद्र पुरोहित की पुत्री रोहिणी इन चारों कन्याओं ने एक साथ ही गुरु से विद्या प्राप्त की थी अतः इनमें परस्पर बहुत ही प्रेम था। एक दिन बसंत ऋतु में ये कन्यायें वन क्रीड़ा के लिये गईं, वहाँ मुनिराज के दर्शन करके बहुत ही प्रसन्न हुईं। पुनः प्रार्थना की—हे भगवन् ! हमें ऐसा कोई व्रत दीजिये कि जिससे निंद्य स्त्रीपर्याय से छुटकारा मिल जाये। मुनिराज ने कहा—

बालिकाओं ! तुम दशलक्षण व्रत करो, विधिवत् अभिषेक, पूजा, जाप्य आदि करके दश दिन धर्म-ध्यान में व्यतीत करो। भादों सुदी पंचमी से चौदश तक पूर्वोक्त विधि का स्पष्टीकरण कर दिया। इन चारों कन्याओं ने दश वर्ष व्रत करके उद्यापन किया। अंत समय समाधिमरण से मरणकर दशवें स्वर्ग में चारों कन्याओं के जीव महर्द्धिक देव हो गये। वहाँ की सोलह सागर की आयु समाप्त कर इस जंबूद्वीप के मालव देश में उज्जयिनी नगरी के राजा स्थूलभद्र की रानी लक्ष्मीमती के गर्भ से क्रम से देवप्रभु, गुणचन्द्र, पद्मप्रभ और पद्मसारथि नाम के पुत्र हो गये। ब्याह योग्य होने पर निकलप्रभ राजा की ब्राह्मी, कुमारी, रूपवती और मृगनेत्रा इन कन्याओं के साथ क्रम से विवाह हो गया। पिता के दीक्षित हो जाने पर इन राजपुत्रों ने नीतिपूर्वक राज्य का संचालन किया। किसी समय विरक्त होकर चारों ने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर घोर तपश्चरण किया और अंत में निर्वाणधाम को प्राप्त हो गये। इस प्रकार से इस व्रत के प्रभाव से कन्याओं ने स्त्रीलिंग छेदकर देवों के सुख का अनुभव किया पुनः मर्त्यलोक में राज्य सुख भोगकर अंत में शाश्वत सुख को प्राप्त कर लिया है।